अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मई २०२३

समर्पण

अग्निशिखा मई २०२३ वर्ष ५३, अंक १०, पूर्णांक ६३३

विषय-सूची

समर्पण

सन्देश/सम्पादकीय		३
समर्पण क्या है		५
समर्पण तथा प्रयास		१४
समर्पण की प्रक्रिया		२०
श्रीमाँ के प्रति समर्पण		२७
पुरोधा : दैनन्दिनी		३१
दिव्यता में गढ़न	नलिनीकान्त गुप्त	३५
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : रातों के बारे में	नवजातजी	३७
एक शिष्या के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	४०
वह समर्पित नन्हा किशोर	वन्दना	४३
कैसे पहुँच पाऊँगा? (कविता)	श्री विश्वनाथ	४९

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

मन और चैत्य के लिए हमेशा यह अभीप्सा करो कि वे सच्ची चेतना तथा अनुभूति से भरे रहें। तुम्हें विशेष रूप से अचञ्चलता, नीरवता, शान्त श्रद्धा, स्थिरता से बढ़ते हुए विस्तार, अधिकाधिक ज्ञान, गभीर तथा प्रगाढ़, लेकिन साथ ही शान्त भक्ति के लिए अभीप्सा करनी चाहिये। अपने परिवेश तथा विरोधों से परेशान मत होओ। बहुधा ये अवस्थाएँ एक तरह की अग्नि-परीक्षा के रूप में तुम पर थोप दी जाती हैं। अगर तुम ऐसी परिस्थितियों में अपने-आपको आन्तरिक रूप से विक्षुब्ध किये बिना शान्त और अचञ्चल बने रहो तथा साधना को जारी रखो तो यह अवस्था तुम्हें आवश्यक शक्ति प्रदान करने में तुम्हारी भरपूर सहायता करेगी; क्योंकि योग का पथ हमेशा आन्तरिक तथा बाह्य कठिनाइयों से घिरा रहता है और उनका सामना करने के लिए साधक को अचञ्चल तथा दृढ़ बल विकसित करना होता है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. १२४

सम्पादकीय : पूर्णयोग में अभीप्सा, त्याग तथा समर्पण, यानी तिहरे व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता होती है। हमारे योग का मुख्य आधार है—समर्पण। प्रचलित विचारों के विपरीत, स्वयं समर्पण में भी प्रयास करना पड़ता है, हालाँकि एक बार पूर्ण हो जाने पर धीरे-धीरे वह समर्पण प्रयास का स्थान ले लेता है, अर्थात्, अनायास होता चला जाता है।

हमारा यह अंक पूर्णयोग की इसी प्रमुख क्रिया को समर्पित है, जो स्पष्ट रूप से यह दर्शाती है कि 'भगवती माँ' के प्रति समर्पण तथा निवेदन के संकल्प के बिना इस योग को करना असम्भव है।

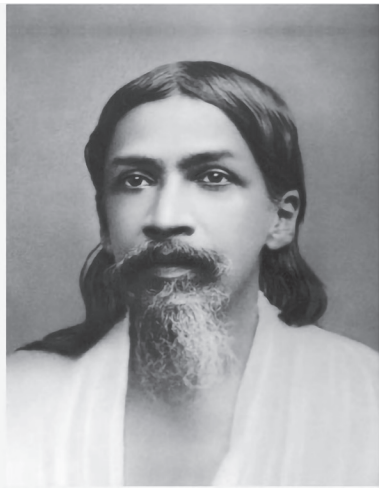

पूर्वजन्मों के सम्पर्क

हमारे कौन से पुण्यों की वजह है कि हम मनुष्यों को भागवत कृपा ने यह वर प्रदान किया कि हमें यहाँ प्रभु के चरणों में शरण दे दी?

यह तुम्हारी अन्तरात्मा की पुकार थी जो तुम्हें यहाँ ले आयी, साथ ही पूर्वजन्मों में श्रीमाँ तथा मेरे साथ सम्पर्क और अभीप्सा भी इसका कारण है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. ८७ **श्रीअरविन्द**

समर्पण क्या है

योग साधना के दो मार्ग

योग-साधना के दो मार्ग हैं, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग दुष्कर है, इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्य से ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्ति के अनुपात में ही ऊँचे उठते हो और उसी के अनुसार फल पाते हो। इस मार्ग में नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाई में जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पण का मार्ग, निरापद और निश्चित है। परन्तु पश्चिमवालों को इसमें कठिनाई होती है। उन्हें यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीज़ों से डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता पर आँच लायें। व्यक्तित्व की भावना उनकी घुट्टी में मिली होती है। और समर्पण का अर्थ है इस सबका त्याग। दूसरे शब्दों में, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, तुम बन्दर के बच्चे और बिल्ली के बच्चे, इन दोनों में से किसी एक के मार्ग का अनुसरण कर सकते हो। बन्दर के बच्चे को इधर-उधर ले जाये जाने के लिए अपनी माँ की छाती से चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी माँ को कस कर पकड़े रहना पड़ता है और यदि कहीं उसकी मुट्ठी ढीली हो जाये तो वह गिर जाता है। दूसरी ओर, बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता, बल्कि माँ ही उसे पकड़े रखती है, इसलिए उसे न कोई भय होता है न उसका कोई उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि अपनी माता को पकड़ने दे और "माँ-माँ" करता रहे।

इस समर्पण-मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई गम्भीर कठिनाई या कोई ख़तरा नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। मानवीय विषयों में धोखा-धड़ी चल सकती है, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्ग पर तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा रोम-रोम तक में खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६-७

पूर्ण रूप से अपने-आपको सौंप दो

यदि तुम पूर्ण रूप से अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दो तो फिर भगवान् ही योग करते हैं, तब तुम नहीं करते; इसलिए यह बहुत कठिन नहीं होता। परन्तु, यदि तुम तपस्या करते हो तो तुम स्वयं योग करते हो और सारी ज़िम्मेदारी तुम्हारे ऊपर होती है—बस, यही है "ख़तरा"। परन्तु ऐसे लोग होते हैं जो पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर रखना चाहते हैं और उसके ख़तरों को भी उठाते हैं, क्योंकि वे बहुत स्वतन्त्र प्रकृति के होते हैं। सम्भवतः उन्हें बहुत शीघ्रता नहीं होती—यदि सफलता पाने में कई जन्म भी लग जायें तो इससे उनका कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। परन्तु कुछ दूसरे लोग ऐसे होते हैं जो बहुत शीघ्र पहुँचना चाहते हैं तथा लक्ष्य तक पहुँचने के विषय में अधिक निःसंशय होना चाहते हैं; हाँ, ऐसे लोग सारी-की-सारी ज़िम्मेदारी भगवान् पर छोड़ देते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ८४

प्रभु को सौंपने का निश्चय कर लेना

अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय ही समर्पण है। इस निश्चय के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है; अगर तुम समर्पण न करो तो योग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाक़ी सभी चीज़ें स्वभावतः उसके बाद आती हैं, सारी प्रक्रिया समर्पण से आरम्भ होती है। तुम ज्ञान के द्वारा या भक्ति के द्वारा समर्पण कर सकते हो। तुम्हें प्रबल अन्तर्भास हो सकता है कि केवल भगवान् सत्य हैं और एक ज्योतिर्मय विश्वास हो सकता है कि भगवान् के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता। या तुम्हारे अन्दर यह भाव सहज उठ सकता है कि सुखी होने का यही एकमात्र मार्ग है, एक प्रबल चैत्य इच्छा हो सकती है कि तुम पूरी तरह भगवान् के हो जाओ, तुम कहो : "मैं स्वयं अपना मालिक नहीं हूँ," और अपनी सत्ता की पूरी ज़िम्मेदारी सत्य को सौंप दो। इसके बाद आता है स्वार्पण : "यह रहा मैं, विविध गुणोंवाला, अच्छे-बुरे, काले-उजले गुणोंवाला प्राणी। मैं अपने-आपको तुम्हारे हाथों में अर्पित करता हूँ, जैसा हूँ वैसा ही देता हूँ, मेरी सब ऊँच-नीच, मेरे अपने परस्पर-विरोधी आवेगों और वृत्तियों के साथ मुझे स्वीकार कर लो—मेरे साथ जो चाहो करो।" अपनी आत्मार्पण की प्रक्रिया में तुम

अपनी सत्ता को उस चीज़ के चारों ओर एकत्रित करने लगते हो जिसने पहला निश्चय किया था, और वह है केन्द्रीय चैत्य संकल्प। तुम्हारी प्रकृति के सभी कर्कश तत्त्वों में समस्वरता लाने की ज़रूरत है। उन्हें एक-एक करके केन्द्रीय सत्ता के साथ एक करने की ज़रूरत है। तुम एक सहज गति के साथ अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर सकते हो, लेकिन इस एकीकरण के बिना अपने-आपको प्रभावशाली ढंग से देना सम्भव नहीं है। तुम जितने अधिक एकीकृत होओगे, उतना ही अधिक स्वार्पण करने-योग्य हो जाओगे। और एक बार स्वार्पण पूरा हो जाये तो आत्म-निवेदन की बारी आती है : यह उपलब्धि की सम्पूर्ण प्रक्रिया का मुकुट है, सोपान की अन्तिम सीढ़ी है। इसके बाद कोई कठिनाई नहीं आती, सब कुछ आसानी से हो जाता है, लेकिन यह न भूलो कि तुम एकदम से पूर्ण आत्म-निवेदन नहीं कर सकते। दो-एक दिनों के लिए किसी विशेष प्रकार की प्रबल गति हो तो तुम्हें इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। तुम्हें यह आशा हो जाती है कि उसके परिणाम-स्वरूप सब चीज़ें अपने-आप होती चलेंगी। लेकिन वास्तव में, यदि तुम ज़रा भी आत्म-सन्तुष्ट हो जाओ तो तुम अपने-आप अपनी प्रगति को रोक दोगे। क्योंकि तुम्हारी सत्ता आपस में लड़ती-झगड़ती, युद्ध करती प्रवृत्तियों से भरी है जिन्हें हम विभिन्न व्यक्तित्व कह सकते हैं। जब उनमें से एक अपने-आपको भगवान् को देता है तो दूसरे भाग उठ कर भक्ति या निष्ठा अर्पित करने से इन्कार कर देते हैं। वे कहते हैं : "हमने अपने-आपको नहीं दिया," और वे अपनी स्वाधीनता और अपनी अभिव्यक्ति के लिए चिल्ल-पों मचाने लगते हैं। तब तुम उन्हें चुप रहने की आज्ञा दो और सत्य को दिखा दो। तुम्हें बड़े धीरज के साथ अपनी सारी सत्ता का चक्कर लगाना पड़ेगा, हर स्थान की, हर कोने की तलाशी लेनी होगी, उन सभी अराजक तत्त्वों का सामना करना होगा जो तुम्हारे अन्दर मौक़ा पाते ही उभरने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। और तुम अपनी सभी कठिनाइयों का अन्त तभी ला सकोगे जब तुम अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृति का पूरा चक्कर लगा चुकोगे, हर चीज़ को अपने-आपको भगवान् के सुपुर्द करने के लिए मना लोगे और इस तरह सम्पूर्ण एकीकृत आत्म-निवेदन की स्थिति प्राप्त कर लोगे। तब वास्तव में रूपान्तर की ओर तुम्हारी भव्य यात्रा होगी, क्योंकि तब तुम अन्धकार से ज्ञान की ओर

नहीं, ज्ञान से ज्ञान की ओर, प्रकाश से प्रकाश की ओर, आनन्द से आनन्द की ओर चलोगे।... सम्पूर्ण आत्म-निवेदन आसान चीज़ नहीं है और यदि तुम्हें अपने ही भरोसे, अपने स्वतन्त्र प्रयास के द्वारा इसे करना हो तो शायद इसमें बहुत ही अधिक समय लग जाये। लेकिन जब भागवत कृपा तुम्हारे साथ हो तो ठीक ऐसा नहीं होता। जब-तब भगवान् की ओर से ठीक दिशा में ज़रा-सा धक्का मिल जाये तो काम अपेक्षया सरल हो जाता है। समय की अवधि व्यक्ति-व्यक्ति पर आश्रित होती है, लेकिन अगर तुम सचमुच दृढ़ संकल्प ले लो तो यह बहुत कम हो सकती है। दृढ़ संकल्प ही अपेक्षित है—दृढ़ संकल्प ही है सर्वकुञ्जी।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४१-४३

समर्पण तथा भेंट

क्या आत्मार्पण करने का अर्थ समर्पण नहीं है?

बिलकुल नहीं। तुम देने के आनन्द के लिए दे सकते हो, समर्पण की किसी भावना के बिना। उत्साह के उद्रेक में, जब तुम्हें अपने-आपसे अनन्ततः महत्तर किसी वस्तु की झाँकी मिल जाती है तो तुम उत्साह के साथ अपने-आपको दे सकते हो, परन्तु जब प्रत्येक क्षण उसे जीवन में उतारने का, प्रत्येक मुहूर्त अपने-आपको उच्चतर 'संकल्प-शक्ति' के प्रति समर्पण करने का प्रश्न होता है और जब प्रत्येक क्षण इस समर्पण की आवश्यकता होती है तो यह अधिक कठिन होता है। परन्तु "आत्मार्पण" शब्द से तुम्हारा मतलब यदि तुम्हारी सभी गतिविधियों, तुम्हारे सभी कार्यों के सर्वांगपूर्ण आत्मार्पण से हो तो इसे निश्चित रूप से, बिना स्पष्ट संकेत दिये, कहा जा सकता है कि यह समर्पण का पर्याय है। परन्तु तब यह उत्साह से किया गया कोई कार्य नहीं रह जाता, यह एक ऐसी चीज़ हो जाता है जिसे पूरे ब्योरे में सम्पन्न करना होता है। हम कह सकते हैं कि तीव्रावेग और उत्साह के साथ किया गया कोई भी कार्य अपेक्षाकृत सहज होता है (वह तुम्हारे अन्दर की कार्य करने की तीव्रता पर निर्भर करता है), परन्तु जब अपने जीवन के प्रत्येक क्षण और उसके समस्त ब्योरे में अपनी अभीप्सा को संसिद्ध करने का प्रश्न होता है तो उत्साह थोड़ा पीछे हट जाता है और मनुष्य कठिनाई अनुभव करता है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ४, पृ. १५८-५९

समर्पण तथा बलिदान

हमारे योग में बलिदान के लिए कोई स्थान नहीं है। परन्तु सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि तुम बलिदान शब्द का क्या अर्थ करते हो। इसके विशुद्ध भाव के अनुसार इसका अर्थ है—पवित्र उत्सर्ग, भगवान् के प्रति अर्पण द्वारा पवित्रीकरण। परन्तु आजकल के बलिदान का अर्थ है, विनाश के लिए प्रवृत होना; यह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण लिये होता है। इस प्रकार का बलिदान यज्ञ नहीं है, यह तो आत्मवञ्चना है, आत्मवध है। तुम अपनी सम्भावनाओं का, अपने व्यक्तित्व की अत्यन्त जड़-प्राकृतिक भूमिका से लेकर अत्यन्त आध्यात्मिक भूमिकाओं तक की सम्भावनाओं और सिद्धियों का बलिदान कर देते हो। बलिदान तुम्हारी सत्ता को क्षीण कर देता है। भौतिक रूप से, यदि तुम अपने जीवन का, अपने शरीर का बलिदान करते हो तो तुम पार्थिव भूमिका पर की अपनी समस्त सम्भावनाओं को खो देते हो; तुम अपने पार्थिव जीवन की सफलताओं से हाथ धो बैठते हो।

इसी प्रकार नैतिक दृष्टि से तुम अपने जीवन की बलि दे सकते हो; तुम अपने आन्तरिक जीवन की विशालता और स्वतन्त्र चरितार्थता को त्याग देते हो। आत्मबलि की इस भावना के अन्दर सदा ही एक प्रकार की ज़बरदस्ती का, एक तरह के दबाव का, एक अध्यारोपित आत्म-वञ्चना का भाव रहता है। यह एक ऐसा आदर्श है जो आत्मा की गभीरतर और विशालतर सहजता को कोई स्थान नहीं देता। समर्पण से हमारा ऐसा आशय नहीं, बल्कि सहज आत्मदान है, अपने-आपको पूरी तरह से भगवान् को, एक ऐसी उच्चतर चेतना को दे देना जिसके तुम एक अंग हो। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्व को घटायेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा, न उसका नाश ही करेगा, बल्कि वह उसको सुदृढ़ बनायेगा, उसका उत्कर्ष करेगा। समर्पण का अर्थ है, देने के पूर्ण आनन्द के साथ मुक्त भाव से और पूर्ण रूप से देना, इसमें बलिदान का कोई भाव नहीं है। यदि तुम्हारे अन्दर ज़रा-सा भी ऐसा भाव होता है कि तुम बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता। क्योंकि इसका तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाये रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अनिच्छापूर्वक या कष्ट और प्रयास के साथ देने की

चेष्टा कर रहे हो, तुम्हें देने का आनन्द नहीं मिलता, शायद तुम्हारे अन्दर देने का भाव तक नहीं होता। जब कभी तुम किसी काम को अपनी सत्ता पर दबाव डाल कर करते हो तभी तुम यह निश्चयपूर्वक जान लो कि तुम उस काम को ग़लत तरीक़े से कर रहे हो। सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमता की वृद्धि करता है, वह तुम्हारे गुण और मात्रा के परिमाण को इतना बढ़ा देता है जितना तुम अपने-आप न बढ़ा पाते। गुण और मात्रा की यह नयी वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सकते थे उससे भिन्न प्रकार की है : तुम किसी दूसरे ही जगत् में प्रवेश करते हो, किसी विशालता में, जिसमें समर्पण किये बिना न पहुँच पाते। यह तो ऐसे ही है जैसे समुद्र में जल की एक बूँद गिरती है। अगर उसने अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखा तो वह मात्र जल की बूँद रहेगी, इससे अधिक कुछ नहीं, एक छोटी-सी बूँद जो अपने इर्द-गिर्द की विशालता से कुचल दी गयी, क्योंकि उसने समर्पण नहीं किया है। परन्तु, समर्पण कर देने पर, वह उस समुद्र के साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्र की प्रकृति और शक्ति और विशालता का अंग बन जाती है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १२८-३०

समर्पण तथा मानव व्यक्तित्व

समर्पण के विषय में बहुत से भ्रान्त विचार फैले हुए हैं। ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग समझते हैं कि समर्पण करने का अर्थ है, व्यक्तित्व का विसर्जन, किन्तु यह एक दुःखद भूल है। कारण, व्यक्ति के अस्तित्व का प्रयोजन है भागवत चेतना के एक पहलू की अभिव्यक्ति, और इस पहलू के स्वभावगत धर्म के प्रकाशन से ही उसके व्यक्तित्व की रचना होती है। इसलिए भगवान् की ओर उचित भाव रखने से यह व्यक्तित्व क्षीण और विकृत करने वाले निम्न प्रकृति के प्रभावों से मुक्त हो जाता है और अधिक शक्तिसम्पन्न होकर, अपने स्वरूप में अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण बन जाता है। उसके व्यक्तित्व का सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूप में चमकने लगते हैं, उसका चरित्र अधिक यथार्थ रूप में प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय सम्भव न होता जब वह सारे अज्ञान और अन्धकार से, निम्न प्रकृति की सारी गन्दगी और खोट से मिला हुआ

था। अब उसका व्यक्तित्व ऊँचाई में और महिमा में बढ़ने लगता है, उसकी क्षमता में वृद्धि हो जाती है तथा उसकी अधिकतर सम्भावनाएँ सिद्ध होने लगती हैं। परन्तु उदात्त करने वाले इस परिवर्तन को लाने के लिए व्यक्ति को पहले उस सबका त्याग करना होगा जो सत्य स्वभाव को विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करके उसके सच्चे व्यक्तित्व को बन्धन में डालता, नीचे की ओर गिराता और विरूप बनाता है; उसे अपने-आपमें से उन सब तत्त्वों को निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्य की अज्ञानमयी, निम्न क्रियाओं से तथा उसके अन्धे, लँगड़े साधारण जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। सबसे पहले उसे अपनी कामनाओं का त्याग करना होगा; कारण, कामना निम्न प्रकृति की सबसे अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्य को सबसे अधिक तमसाच्छन्न कर देती है। कामनाएँ दुर्बलता और अज्ञान की गतियाँ हैं और ये तुम्हें तुम्हारी दुर्बलता तथा अज्ञान से बाँधे रखती हैं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १३१-३२

सबसे महत्त्वपूर्ण समर्पण

सबसे महत्त्वपूर्ण समर्पण है तुम्हारे चरित्र का, तुम्हारी जीवन-विधि का समर्पण, ताकि वह बदल सके। यदि तुम अपनी एकदम निजी प्रकृति का समर्पण न करो तो यह प्रकृति कभी परिवर्तित नहीं होगी। बस, यही चीज़ है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तुम किन्हीं विशेष तरीक़ों से समझते हो, विशेष ढंगों से प्रतिक्रिया करते हो, विशेष रूपों में अनुभव करते हो, लगभग विशेष रीतियों से प्रगति करते हो, और सबसे बढ़ कर, एक विशेष दृष्टि से जीवन की ओर दृष्टिपात करते और उससे विशेष वस्तुओं की आशा करते हो—हाँ, बस इसे ही तुम्हें समर्पित करना होगा। कहने का मतलब, यदि तुम वास्तव में दिव्य 'ज्योति' को पाना और रूपान्तरित होना चाहते हो तो तुम्हें अपनी सत्ता और जीवन के पूरे तौर-तरीक़े को अर्पित कर देना होगा—उसे उद्घाटित करके, यथासाध्य अधिक-से-अधिक ग्रहणशील बना कर अर्पित करना होगा ताकि दिव्य 'चेतना', जो यह देखती है कि तुम्हें कैसा होना चाहिये, सीधे रूप में कार्य कर सके और इन समस्त क्रियाओं को अधिक सच्ची क्रियाओं में, तुम्हारे यथार्थ सत्य के साथ अधिक संगत क्रियाओं में परिवर्तित कर सके। यह बात अपने कर्मों को समर्पित करने

की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक आवश्यक है। सच पूछा जाये तो मनुष्य जो कुछ करता है (वह जो कुछ करता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है यह तो स्पष्ट ही है) वह नहीं, बल्कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह **क्या** है। कार्य-कलाप चाहे जो हो, वास्तव में कार्य जिस तरह किया जाता है वह नहीं, बल्कि चेतना की जिस स्थिति में वह किया जाता है वह महत्त्वपूर्ण है। तुम काम कर सकते हो, व्यक्तिगत लाभ की किसी भावना से रहित होकर निष्काम कर्म कर सकते हो, कार्य करने के आनन्द के लिए कार्य कर सकते हो, परन्तु यदि तुम उसके साथ-ही-साथ उस कर्म को छोड़ने के लिए, कर्म को बदलने के लिए अथवा कर्म की विधि को बदलने के लिए तैयार न होओ, यदि तुम अपनी ही कर्म-पद्धति से चिपके रहो, तो तुम्हारा समर्पण पूर्ण नहीं है। तुम्हें एक ऐसी स्थिति में आना होगा जिसमें प्रत्येक चीज़ इसलिए की जाती है कि तुम अपने अन्दर, बहुत स्पष्ट रूप में, अधिकाधिक आवश्यक रूप में यह अनुभव करो कि बस यही चीज़ है जो की जानी चाहिये और इसी विशिष्ट पद्धति से की जानी चाहिये और तुम उसे केवल उस कारण से ही करते हो। तुम किसी आदत, आसक्ति या पसन्दगी के कारण, या यहाँ तक कि किसी धारणा के वश, इस भावना की वरीयता के वश कि बस यही करने-योग्य सबसे उत्तम चीज़ है, उसे नहीं करते,—अन्यथा तुम्हारा समर्पण सर्वांगपूर्ण नहीं है। जब तक तुम किसी चीज़ से चिपके रहते हो, जब तक तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ ऐसी है जो कहती है, "यह परिवर्तित हो सकता है, वह परिवर्तित हो सकता है, पर *वह*, वह परिवर्तित नहीं होगा," जब तक तुम किसी भी वस्तु के लिए यह कहते हो, "वह नहीं परिवर्तित होगी" (इसलिए नहीं कि वह परिवर्तित होने से इनकार करती है, बल्कि इसलिए कि तुम उसके परिवर्तन की बात सोच ही नहीं सकते), तुम्हारा समर्पण पूर्ण नहीं है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि अपने कार्यों में, अपने कर्म में, तुम्हें तनिक भी यह अनुभव होता है कि "मैं इसे इसलिए कर रहा हूँ कि इसे करने के लिए मुझसे कहा गया है," और उसमें तुम्हारी सत्ता की पूर्ण निष्ठा नहीं है, और तुम उस कार्य को इसलिए नहीं करते कि तुम अनुभव करते हो कि उसे करना ही चाहिये और तुम उसे करना पसन्द करते हो; यदि कोई चीज़ पीछे रह जाती है, अलग, पृथक् खड़ी हो जाती

है और कहती है : "मुझसे कहा गया था कि इसे इस भाँति करना होगा इसलिए मैंने इसे इस भाँति किया," इसका मतलब है कि तुम्हारे और तुम्हारे समर्पण के बीच एक बहुत बड़ी खाई है।

सच्चे समर्पण का तात्पर्य है यह अनुभव करना कि इस पूर्ण आन्तरिक समर्थन को तुम चाहते हो, तुम इसे अपने अन्दर बनाये हुए हो, जो कुछ तुम्हें करने को दिया गया है *उसके सिवाय* तुम और कुछ नहीं कर सकते, और जो कुछ तुम्हें करने के लिए नहीं दिया गया है उसे तुम कर ही नहीं सकते। परन्तु दूसरे ही क्षण काम बदल सकता है; किसी भी मुहूर्त वह कोई दूसरी ही चीज़ हो सकता है, यदि यह निश्चय किया गया हो कि वह कोई अन्य चीज़ हो। बस, यहीं पर आती है नमनीयता की बात। उससे बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। यह ख़ूब परिचित बात है कि जो काम करते हैं उनसे कहा जाता है, "हाँ, कर्म करो, वही तुम्हारे समर्पण का पथ है", पर यह प्रारम्भ-मात्र है। इस पथ को वर्धनशील होना होगा। यह केवल प्रारम्भ है, समझे?

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ४, पृ. ४४५-४७

तामसिक समर्पण

"एक तामसिक समर्पण जो शर्तें पूरी करने से इन्कार करता हो"... अगर वह शर्तें पूरी करने से इन्कार करे तो वह समर्पण न रहेगा, है न?

बिलकुल ठीक। लेकिन ऐसे बहुत से लोग हैं जो सोचते हैं कि उन्होंने समर्पण कर दिया है और वे कहते हैं : "अब मैं ख़ुद कुछ नहीं करता, मैं भगवान् के प्रति समर्पित हो चुका हूँ, भगवान् को मेरे लिए सब कुछ करना चाहिये।" वे इसे समर्पण कहते हैं...। इसका मतलब है कि यह प्रमाद और तमस् की प्रवृत्ति है जो प्रयास नहीं करना चाहती और चाहती है कि भगवान् तुम्हारे लिए सब कुछ कर दें, क्योंकि यह ज़्यादा आरामदेह है!

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ६, पृ. २५२-५३

समर्पण तथा प्रयास

समर्पण तथा व्यक्तिगत इच्छा

यदि तुम समर्पण करते हो तो तुम्हें प्रयास छोड़ देना होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें संकल्पकृत कर्म भी त्याग देना चाहिये। इसके विपरीत, यदि तुम अपना संकल्प 'भगवान् के संकल्प' को दे दो तो सिद्धि का काम तेज़ हो सकता है। यह भी एक और रूप में समर्पण ही है।

तुमसे जिस चीज़ की अपेक्षा की जाती है वह निष्क्रिय समर्पण नहीं है जिसमें तुम जड़-पत्थर की तरह हो जाओ, बल्कि अपेक्षा यह की जाती है कि तुम अपने संकल्प को 'भगवान् के संकल्प' के अधीन कर दो।

*

तुम्हारे अन्दर संकल्प तो होता ही है, तुम उस संकल्प को भगवान् को अर्पण कर सकते हो। रात को सचेतन रहने के उदाहरण को ही ले लो। यदि तुम निष्क्रिय समर्पण-भाव रखो तो तुम कहोगे: "जब 'भगवान् की इच्छा' होगी कि मैं सचेतन होऊँ, तभी मैं सचेतन होऊँगा।" दूसरी ओर, यदि तुम अपने संकल्प को भगवान् को अर्पण कर दो तो तुम संकल्प करना आरम्भ कर दोगे और कहोगे: "मैं अपनी रातों के बारे में सचेतन होऊँगा।" तुम संकल्प करते हो कि ऐसा होना चाहिये, प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप नहीं बैठ जाते। इस क्रिया में समर्पण का भाव तब आता है जब तुम यह भाव धारण करते और कहते हो: "मैं अपने संकल्प को भगवान् के अर्पण करता हूँ, मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं अपनी रातों के बारे में सचेतन होऊँ, मेरे अन्दर ज्ञान नहीं है, 'भगवान् का संकल्प' मेरे लिए इस काम को पूरा करे।" तुम्हारे संकल्प को किसी विशेष कार्य का चुनाव करने के लिए या किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि एक तीव्र अभीप्सा के रूप में, जो अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति पर केन्द्रित हो, स्थिरतापूर्वक कार्य करते जाना चाहिये। यह पहली सीढ़ी है। यदि तुम जागरूक हो उठो, सावधान और सचेतन होओ तो तुम्हें "जो करना चाहिये" उसकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिल जायेगी और तुम्हें तत्काल उसके अनुसार कार्य करने लग जाना चाहिये। हाँ, एक बात

याद रखनी चाहिये, समर्पण का अर्थ है कर्मों का जो भी फल हो उसे स्वीकार करना, फिर चाहे वह तुम्हारी आशा के सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो। दूसरी ओर, यदि तुम्हारा समर्पण निष्क्रिय है तो तुम कुछ नहीं करोगे, किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करोगे, बल्कि मौज से सो जाओगे और किसी चमत्कार की प्रतीक्षा करोगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. २३-२४

समर्पण तथा व्यक्तिगत प्रयास

प्रयत्न तो तुम्हें सदा करते ही रहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे प्रयत्न का फल देना या न देना भगवान् का काम है। यहाँ पर तुम्हारी अपनी ताक़त ख़त्म हो जाती है, यदि कोई परिणाम आता है तो उसे तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं, बल्कि 'भागवत शक्ति' लाती है। तुम पूछते हो कि भगवान् से इन चीज़ों को माँगना उचित है या नहीं। यदि किसी नैतिक दोष को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने में कोई हर्ज़ नहीं है, तो किसी भौतिक अपूर्णता को दूर करने के लिए भगवान् की ओर मुड़ने में क्या हर्ज़ है? परन्तु तुम जो कुछ माँगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब तुम ज्ञान या शक्ति का प्रयोग करते हुए भरपूर प्रयास कर रहे होते हो, तुम्हें सदा यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान् की 'कृपा' पर निर्भर होता है। एक बार यदि तुमने इस योग को स्वीकार कर लिया है तो फिर तुम्हारे सभी काम पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव से होने चाहियें। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये: "मैं अभीप्सा करता हूँ, मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करने की कोशिश करता हूँ, मैं यथासम्भव सब करता हूँ, किन्तु फल के लिए मैं अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से भगवान् के हाथों में सौंपता हूँ।"

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १०९-१०

समर्पण एक दिन में नहीं होता

साधना के प्रारम्भिक काल में—और इससे मेरा मतलब है, काफ़ी समय तक—प्रयास अनिवार्य होता है। समर्पण निश्चय ही होना चाहिये, लेकिन समर्पण कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे एक दिन में किया जा सके। मन के अपने विचार होते हैं और वह उनसे चिपटा रहता है; व्यक्ति का

प्राण समर्पण का विरोध करता है, जैसा कि कहा जाता है कि प्रारम्भिक स्तरों पर समर्पण सन्देहास्पद तरीक़े का आत्म-दान होता है जिसमें अपनी माँग भी होती है; भौतिक चेतना पत्थर की तरह होती है और वह जिसे समर्पण कहती है वह बहुत बार तमस् या जड़ता ही होती है। केवल चैत्य ही जानता है कि समर्पण कैसे किया जाये, और चैत्य शुरू-शुरू में सामान्यतया बहुत अधिक छिपा हुआ, परदे के पीछे होता है। जब चैत्य जागता है तो वह सारी सत्ता का अकस्मात् तथा सच्चा समर्पण ला सकता है, क्योंकि तब बाक़ी सब हिस्सों की कठिनाइयों से जल्द-से-जल्द निपटा जा सकता है और वे शीघ्र ही ग़ायब हो जाती हैं। लेकिन तब तक प्रयास करना आवश्यक होता है। या फिर यह तब तक ज़रूरी होता है जब तक 'शक्ति' ऊपर से बाढ़ के रूप में सत्ता के अन्दर नहीं उतरती और साधना को अपने हाथ में नहीं ले लेती, तब वही व्यक्ति के लिए साधना का कार्य अधिक-से-अधिक करती है और व्यक्तिगत प्रयास के लिए कम-से-कम छोड़ती है—लेकिन फिर भी, प्रयास न भी हो परन्तु कम-से-कम अभीप्सा तथा जागरूकता तो तब तक ज़रूरी होती हैं जब तक 'भागवत शक्ति' मन, इच्छा, प्राण तथा शरीर पर अपना पूरा अधिकार नहीं कर लेती।...

दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी हैं जो सच्चे तथा ऊर्जस्वी संकल्प के साथ पूर्ण समर्पण से आरम्भ करते हैं। ये ऐसे लोग होते हैं जो चैत्य द्वारा शासित होते हैं अथवा स्पष्ट तथा जाग्रत् मानसिक संकल्प का उन पर शासन होता है और एक बार समर्पण को साधना के नियम के रूप में स्वीकार कर लेने के बाद यह संकल्प उससे जौ-भर भी नहीं हिलता और सत्ता के दूसरे भागों पर भी दबाव डालता है कि वे उसी के दिग्दर्शन में चलें। यहाँ फिर भी प्रयास होता है, लेकिन वह संकल्प इतना प्रस्तुत, इतना सहज होता है और उसके पीछे एक महानतर 'शक्ति' हमेशा उपस्थित रहती है और इस बात का इतना ज़बरदस्त भाव बना रहता है कि साधक को पता तक नहीं चलता कि वह सचमुच कोई प्रयास भी कर रहा है। इसके विपरीत, अगर समर्पण की इच्छा केवल मन या प्राण में ही हो तो जब कभी यह विचार मन में फूट पड़े कि 'ओह, मुझे अपनी स्वतन्त्रता को छोड़ना पड़ेगा', तो संघर्ष और प्रयास तब तक निरन्तर बने रहते हैं जब तक कि सम्मुख खड़ी सत्ता और अन्दर बसी दिव्यता के बीच की दीवाल टूट नहीं जाती। ऐसा

कोई भी नियम नहीं बनाया जा सकता जिसे समान रूप से हर एक पर लागू किया जा सके—मनुष्यों के स्वभाव में इतनी विविधताएँ होती हैं कि उन्हें किसी एक ही कठोर नियम में बाँधना सम्भव नहीं।
CWSA खण्ड २९, पृ. ८३-८४

समर्पण तथा तपस्या

समर्पण की प्रक्रिया अपने-आपमें एक तपस्या है। न केवल इतना ही, बल्कि वस्तुतः यह तपस्या की दोगुनी प्रक्रिया है, क्योंकि अपने-आपका काफ़ी हद तक समर्पण करने के बाद भी निरन्तर बढ़ता हुआ समर्पण पथ पर काफ़ी समय तक चलता ही चला जाता है। फिर एक ऐसा समय आता है जब व्यक्ति 'भागवत उपस्थिति' तथा 'भागवत शक्ति' का निरन्तर अनुभव करता है और अधिकाधिक यह अनुभव करता है कि वही सब कुछ कर रही है—तब बुरी-से-बुरी कठिनाइयाँ भी इस अनुभव को विक्षुब्ध नहीं कर सकतीं और तब व्यक्ति का निजी प्रयास आवश्यक नहीं रह जाता, वह सचमुच सम्भव ही नहीं होता। यही है अपनी प्रकृति का परम प्रभु के हाथों में पूर्ण समर्पण का लक्षण। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें इस अनुभूति के आने से पहले ही श्रद्धा प्रतिष्ठित हो जाती है और अगर भक्ति तथा श्रद्धा प्रबल और सुदृढ़ हों तो वे उन्हें अनुभूति तक आगे बढ़ा ले जाती हैं। लेकिन सभी पहले से यह स्थिति नहीं अपना सकते—और कुछ के लिए तो यह ख़तरनाक भी साबित हो सकती है, क्योंकि यह सोचते हुए कि वे अपने-आपको परम प्रभु के हाथों में सौंप रहे हैं, किसी ग़लत शक्ति के हाथों में डाल सकते हैं। अधिकतर के लिए तपस्या के द्वारा समर्पण में विकसित होना अनिवार्य होता है।
CWSA खण्ड २९, पृ. ८२

समर्पण तथा चैत्य

चैत्य सत्ता के प्रति नहीं बल्कि भगवान् के प्रति समर्पण की माँग की जाती है। व्यक्ति भगवान् के प्रति श्रद्धा के सहारे बढ़ता है; साधना के परिणाम के रूप में उसे ठोस परिणाम मिलते हैं। व्यक्ति चेतना को तैयार करने के लिए कुछ किये बिना प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करने की माँग नहीं

कर सकता। अगर उसे लगता है कि उसके अन्दर पुकार उठी है तो उसे उसका अनुसरण करना चाहिये—अगर कोई पुकार न हो तो भगवान् की खोज में निकल जाने की कोई आवश्यकता नहीं। आरम्भ करने के लिए श्रद्धा पर्याप्त है—यह विचार कि खोज कर सकने से पहले व्यक्ति को समझना तथा सिद्ध करना चाहिये एक मानसिक भूल है, और अगर यह बात सच होती तो कभी कोई साधना सम्भव ही नहीं होती—उपलब्धि केवल साधना के परिणाम के रूप में आ सकती है, साधना के प्रारम्भिक काल में कभी नहीं।

CWSA खण्ड २९, पृ. ७७-७८

श्रद्धा को पाने का तरीका

श्रद्धा तथा बाक़ी सभी चीज़ों को पाने का तरीक़ा बस यही है कि उन्हें पाने के लिए दृढ़ाग्रह के साथ लगे रहो और जब तक ये तुम्हें हस्तगत न हो जायें, न कभी ढीले पड़ो और न ही उदासी के घेरे में फँसो—केवल इसी एक तरीक़े से इस जगत् में हर एक चीज़ तब से प्राप्त की गयी है जब से इस पर चिन्तनशील तथा अभीप्सा करने वाले प्राणियों ने पदार्पण किया। सच्चा तरीक़ा यह है कि हमेशा, हमेशा 'प्रकाश' के प्रति खुले रहो और अन्धकार की तरफ़ पीठ कर लो। उन सभी आवाज़ों के प्रति एकदम बहरे बन जाओ जो किसी ज़िद्दी की तरह लगातार चिल्लाती रहती हैं, "तुम यह नहीं कर सकते, तुम यह नहीं करोगे, तुम इसे करने में पूरी तरह असमर्थ हो, तुम तो बस एक सपने की कठपुतली हो।"—क्योंकि ये उन शत्रु की आवाज़ें हैं जो अपने कर्कश शोर-शराबे से भागवत परिणामों को आने से रोकते हैं और अगर कहीं तुम उन पर ज़रा भी ध्यान दे दो और परिणाम न आयें तो वे अपने सिर विजय का सेहरा बाँध तुम्हारी खिल्ली उड़ाते हैं। यह तो सर्वविदित है कि इस प्रयास में पग-पग पर कठिनाई का सामना करना होता है, लेकिन कठिनाई पर असम्भव का बिल्ला नहीं लग जाता —हमेशा कठिन चीज़ को ही सिद्ध किया जाता है और पृथ्वी के इतिहास में जो कुछ मूल्यवान् की श्रेणी में आता है वह कठिनाइयों पर विजय पाने का ही प्रतीक है। आध्यात्मिक प्रयास के लिए भी यही सत्य ठहरता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १००

कृपा तथा सुरक्षा हमेशा तुम्हारे साथ रहती हैं। किसी भी आन्तरिक या बाहरी कठिनाई या कष्ट को अपने ऊपर हावी मत होने दो; रक्षक 'भागवत शक्ति' की शरण में जाओ। अगर तुम हमेशा इसे श्रद्धा और सच्चाई के साथ करो तो तुम अपने अन्दर किसी चीज़ को खुलते हुए देखोगे जो सभी सतही विक्षुब्धताओं के बावजूद हमेशा शान्त तथा अचञ्चल बनी रहेगी।
CWSA खण्ड ३१, पृ. ७२४-२५

समर्पण की प्रक्रिया

सच्चा समर्पण कठिन चीज़ है

उदाहरण के लिए, तुमने अपना जीवन भगवान् को निवेदित करने का निश्चय कर लिया। लेकिन अचानक तुम्हारे साथ कोई बहुत ही अप्रिय, अप्रत्याशित घटना होती है और तुम्हारी पहली क्रिया होती है प्रतिक्रिया की, विरोध की। फिर भी तुमने अर्पण तो किया ही है, तुमने सदा के लिए कह दिया है : "मेरा जीवन भगवान् का है।" और अचानक कोई बहुत ही अप्रिय घटना होती है (ऐसा हो सकता है) और तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ है जो प्रतिक्रिया करती है, जो उसे नहीं चाहती। लेकिन यहाँ, अगर तुम अपने निवेदन में सचमुच युक्तिसंगत होना चाहो तो तुम्हें इस अप्रिय घटना को सामने लाकर भगवान् के आगे निवेदित कर देना चाहिये और बहुत निष्कपट भाव से उनसे कहना चाहिये : "भगवान्, तुम्हारी इच्छा पूरी हो। अगर तुमने इस तरह किया है तो यह इसी तरह होगा।" और यह एक स्वेच्छापूर्वक किया गया सहज लगाव होना चाहिये। पर, यह बहुत कठिन है।

छोटी-से-छोटी चीज़ के लिए भी ऐसा ही होना चाहिये। जो चीज़ उससे मेल नहीं खाती जिसकी तुमने आशा की थी, जिसके लिए तुमने काम किया था तो एक उलटी प्रतिक्रिया होती है, स्वाभाविक और अप्रतिरोध्य रूप से तुम पीछे हटते हो और कहते हो कि "नहीं, नहीं, यह नहीं।" अगर तुमने पूर्ण समर्पण, सम्पूर्ण समर्पण किया है तो ऐसा नहीं होता, तुम एक अवस्था में भी उतने ही अचञ्चल, शान्त, स्थिर बने रहते हो जितने दूसरी अवस्था में। शायद तुम्हारा ख़याल था कि चीज़ अगर अमुक तरह से हो तो ज़्यादा अच्छा होगा, लेकिन अगर वह दूसरी तरह से हो तो तुम्हें वह भी ठीक लगता है। उदाहरण के लिए, तुमने किसी चीज़ के लिए बहुत मेहनत की होगी ताकि अमुक परिणाम आये, तुमने बहुत समय लगाया होगा, बहुत शक्ति, बहुत इच्छा-शक्ति लगायी होगी—और यह सब अपने लिए नहीं, बल्कि मान लो, भगवान् के लिए (यह आत्म-निवेदन है); अब मान लो कि इतना कष्ट उठाने के बाद, इतना काम करने के बाद, इतने प्रयास के बाद, सारी चीज़ उलटी दिशा में चली जाये, सफलता न मिले।

अगर तुम सचमुच समर्पित हो तो तुम कहते हो : "यह अच्छा है, यह

सब अच्छा है, यह बिलकुल ठीक है। मैं जो कुछ कर सकता था कर चुका, जितना अच्छा कर सकता था किया। अब यह मेरा निर्णय नहीं है, यह भगवान् का निर्णय है, वे जो कुछ निर्णय करें वह मुझे पूरी तरह स्वीकार है।"

दूसरी ओर, अगर तुम्हारे अन्दर यह गहरा और सहज समर्पण नहीं है तो तुम अपने-आपसे कहते हो: "यह कैसे! मैंने इसे करने के लिए इतना कष्ट उठाया जो मेरे स्वार्थ के लिए नहीं, भगवान् के काम के लिए था और परिणाम यह आया, यह असफल रहा!" सौ में से निन्यानबे बार यही होता है।

सच्चा समर्पण बहुत कठिन चीज़ है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ५, पृ. ५८-५९

तीन अवस्थाएँ

वस्तुतः, पहली विजय है एक व्यक्तित्व की रचना। और फिर बाद में, दूसरी विजय है इस व्यक्तित्व को भगवान् को दे देना। और तीसरी विजय यह है कि भगवान् तुम्हारे व्यक्तित्व को दिव्य सत्ता में बदल दें।

तीन अवस्थाएँ हैं—पहली है व्यक्ति बनना; दूसरी है व्यक्ति का निवेदन, ताकि वह भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण कर दे और उनके साथ एक हो जाये; और तीसरी है जब भगवान् उसके व्यक्तित्व पर अधिकार कर लेते हैं और उसे एक ऐसी सत्ता में बदल देते हैं जो उनकी अपनी प्रतिमा हो, यानी, वह भी भगवान् बन जाता है।

साधारणतः, सभी योग दूसरी अवस्था में रुक गये। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व को समर्पित करने और निःशेष भाव से भगवान् को देने और उनके साथ तादात्म्य साधने में सफल हो जाता था, तो वह मान लेता था कि उसका काम पूरा हो गया, सिद्धि प्राप्त हो गयी।

लेकिन *हम* वहाँ से शुरू करते हैं, हम कहते हैं: "नहीं, यह केवल प्रारम्भ है। हम चाहते हैं कि ये भगवान् जिनके साथ हम एक हो गये हैं, वे हमारे व्यक्तित्व में प्रवेश करें और उसे दिव्य व्यक्तित्व में बदल दें जो दिव्य जगत् में काम करे।" हम इसे रूपान्तर कहते हैं। पर दूसरी इसके पहले आती है, पहले आनी भी चाहिये। अगर वह न की जाये, तो तीसरी

अवस्था की सम्भावना ही नहीं रहती। तुम पहली से तीसरी में नहीं जा सकते; तुम्हें दूसरी में से गुज़रना होगा।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ७, पृ. ४४३-४४

मानसिक धारणाओं का समर्पण

यहाँ आप कहती हैं: "जब तुम भगवान् के पास आओ तो तुम्हें सभी मानसिक धारणाएँ छोड़ देनी चाहियें; पर यह करने की जगह तुम अपनी धारणाएँ भगवान् पर आरोपित करते हो और चाहते हो कि भगवान् उनके अनुसार चलें।"

हाँ, हर एक! सारे समय, निरन्तर। अगर भगवान् वैसे नहीं हैं जैसे तुम मानते हो तो वे भगवान् ही नहीं हैं। यदि भगवान् वह नहीं करते जो तुम चाहते हो, अगर वे उस तरह से क्रिया नहीं करते जैसे तुम सोचते हो कि उन्हें करनी चाहिये, अगर उनमें वैसे गुण नहीं हैं जैसे तुम उन्हें प्रदान करते हो तो वे भगवान् नहीं हैं! "मैं तुम्हें भगवान् मान लूँगा यदि तुम ठीक वही करो जो मैं तुमसे करवाना चाहता हूँ!" स्वभावतः लोग इतने निष्कपट नहीं होते कि इस बात को स्वीकार कर लें, पर बात है ऐसी ही। मैं तुम्हें लाखों-करोड़ों उदाहरण दे सकती हूँ—सैकड़ों नहीं, लाखों-करोड़ों। और तुममें से एक भी ऐसा नहीं है जो अचेतन रूप में यह न करता हो। यह एक नियम है, समझे; आदमी कहता है: "मैं भगवान् के आगे समर्पण करने को पूरी तरह तैयार हूँ, उनकी इच्छा के अनुसार चलने को, उनकी उपस्थिति और उनकी क्रिया को स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ *बशर्ते कि* वह ऐसी या वैसी हो, कि वे इस तरह सोचें, अनुभव करें, क्रिया करें, आदि।"

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ५, पृ. १७५-७६

प्राण का समर्पण

तुम्हारी प्रतिक्रिया का वर्णन सुन कर मैंने कहा था कि वह प्राणिक माँग थी। शुद्ध चैत्य या आध्यात्मिक आत्म-समर्पण में इस तरह की कोई भी प्रतिक्रियाएँ नहीं होतीं, कोई निराशा या हताशा नहीं होती, तुम यह नहीं कहते, "भगवान् की खोज करके क्या पाया मैंने?", कोई क्रोध, विद्रोह

नहीं, अभिमान या यहाँ से चले जाने की इच्छा नहीं—जैसा कि तुम यहाँ वर्णन कर रहे हो—बल्कि होता है पूर्ण विश्वास और यह भाव कि चाहे जैसी परिस्थितियाँ क्यों न आयें, मैं भगवान् से चिपटा रहूँगा। मैं चाहता था कि तुम यह भाव अपनाओ; यह एकमात्र आधार है जिस का सहारा लेकर तुम परेशानियों और प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो सकते हो और सधे हुए क़दमों से आगे बढ़ सकते हो।

*

भगवान् पर अपनी मानसिक तथा प्राणिक इच्छा को थोपना नहीं बल्कि भगवान् की इच्छा को ग्रहण कर, उसका अनुसरण करना ही साधना का सच्चा मनोभाव अपनाना है। यह मत कहो, "यह मेरा अधिकार है, मेरी इच्छा है, मेरा दावा, मेरी आवश्यकता और मेरी अपेक्षा है, मुझे भला यह क्यों न मिले?" बल्कि तुम्हें स्वयं को दे देना चाहिये, अपना समर्पण करना चाहिये। दुःखी होने और विद्रोह करने से कहीं अच्छा है कि भगवान् जो कुछ दें उसे ख़ुशी-ख़ुशी ग्रहण कर लो। तब तुम जो कुछ प्राप्त करोगे वह तुम्हारे लिए उचित वस्तु होगी।

CWSA खण्ड २९, पृ. ७४-७५

प्रभु के साथ सौदा करना

जैसा कि मैंने कहीं और समर्पण और बलिदान के बारे में कहा है, अगर तुम्हें किसी चीज़ के लिए पछतावा होता है तो इसका मतलब है कि तुम आध्यात्मिक चेतना में नहीं हो। अगर तुम्हें इस चीज़ के लिए बुरा लगता है कि तुम अब अपनी इच्छाएँ पूरी नहीं कर सकते तो इसका मतलब यह हुआ कि इन इच्छाओं का ज़्यादा नहीं तो कम-से-कम उतना महत्त्व तो है ही जितना उस चीज़ का जिसके लिए तुम अभीप्सा कर रहे हो। तुम कह सकते हो: "इच्छाओं के बारे में मैं पूरी तरह सचेतन हूँ। मैं भगवान् को पाने के विचार से इच्छाओं का परित्याग कर रहा हूँ, लेकिन मुझे इसका विश्वास नहीं कि वे मुझे मिल जायेंगे; इसलिए मैं इसे बलिदान कहता हूँ।" परन्तु मैं इसे सौदेबाज़ी कहती हूँ! यह भगवान् के साथ सौदेबाज़ी है। तुम भगवान् से कहते हो: "लो और दो, मैं तुम्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति से

मिलने वाली ख़ुशी दे रहा हूँ। तुम्हें इसके बदले में मुझे अपने अन्दर तुम्हें अनुभव करने का आनन्द देना चाहिये, वरना यह न्याय न होगा।"—यह आत्म-दान नहीं है, यह है सौदेबाज़ी।

यह मैंने बहुधा सुना है, बहुत बार सुना है : "मैंने इतनी चीज़ों का त्याग किया, मैंने इतना प्रयास किया, इतना कष्ट उठाया और अब देखो, बदले में मुझे कुछ भी नहीं मिला।" मैं इसका बस यही उत्तर दे सकती हूँ : "कोई आश्चर्य नहीं!"

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ५, पृ. ३८४

शरीर का समर्पण

मान लो, तुम्हें कहीं पर दर्द है; सहज वृत्ति (शरीर की सहज वृत्ति, कोषाणुओं की सहज वृत्ति) होती है संकुचन की, इसे नकारने की—यह सबसे बुरी चीज़ है और यह हमेशा दर्द बढ़ाती है। इसलिए पहली चीज़ जो अपने शरीर को सिखानी चाहिये वह है : स्थिर-शान्त रहना, कोई प्रतिक्रिया न करना; और सबसे बढ़ कर, कोई संकुचन नहीं हो, नकारने की कोई गति तक न हो—सम्पूर्ण निश्चलता। यह शारीरिक समता है।

सम्पूर्ण निश्चलता।

सम्पूर्ण निश्चलता के बाद आती है आन्तरिक अभीप्सा (मैं हमेशा कोषाणुओं की अभीप्सा की बात करती हूँ—जिसके लिए कोई शब्द नहीं है उसके लिए मैं शब्दों का प्रयोग करती हूँ, क्योंकि इन्हें छोड़ कर अपनी बात करने का कोई उपाय भी तो नहीं है), समर्पण, यानी, भागवत इच्छा या भागवत 'संकल्प' को, (जिसे तुम नहीं जानते), *सहज रूप में* और *पूर्णतः* स्वीकार करना। क्या 'सर्व-संकल्प' चाहता है कि चीज़ें इस दिशा में चलें या उस दिशा में जायें, यानी, कुछ तत्त्वों के विघटन की ओर जायें या फिर...? और इसमें भी फिर अनन्त छटाएँ हैं : दो ऊँचाइयों के बीच के एक मार्ग की बात है (यह न भूलो, मैं कोषाणुगत उपलब्धियों की बात कर रही हूँ); मेरा मतलब यह है कि तुम्हारे अन्दर एक आन्तरिक स्थिरता है, गति की स्थिरता, जीवन की स्थिरता। यह तो जानी हुई बात है कि एक गति से उच्चतर गति की ओर जाते हुए प्रायः हमेशा ही अवतरण होता है और तब आरोहण होता है—यह संक्रमण है। तब तुम्हें जो धक्का लगता

है क्या वह तुम्हें नीचे की ओर धकेल देता है ताकि तुम फिर ऊपर उठ सको या फिर तुम्हें नीचे की ओर धक्का देता है ताकि तुम पुरानी गतियों को छोड़ दो?—क्योंकि सत्ता के कोषाणुगत मार्ग हैं जिन्हें ग़ायब हो जाना चाहिये ताकि अन्य मार्गों को स्थान मिल सके। फिर दूसरे उपाय ऐसे हैं जो ऊपर की ओर, उच्चतर सामञ्जस्य और संगठन के साथ ऊपर उठने की प्रवृत्ति रखते हैं। यह दूसरी बात है। तुम्हें पहले से *यह परिकल्पना किये बिना* कि क्या होना चाहिये, प्रतीक्षा करनी चाहिये और देखना चाहिये। सबसे बढ़ कर यह इच्छा होती है—यह इच्छा कि हम आराम से रहें, यह इच्छा कि हम शान्ति से रहें, यह सब बन्द होना चाहिये, एकदम लुप्त हो जाना चाहिये। तुम्हारे अन्दर बिलकुल कोई प्रतिक्रिया न होनी चाहिये, इस तरह *(हथेलियाँ खोले हुए ऊपर की ओर निश्चल निवेदन का संकेत)*। और जब व्यक्ति ऐसा हो (यहाँ "व्यक्ति" का अर्थ है कोषाणु), तो कुछ समय बाद गति की श्रेणी का बोध होता है। तुम्हें केवल उसका अनुसरण करना होता है यह जानने के लिए कि क्या यह ऐसी चीज़ है जिसे ग़ायब हो जाना चाहिये और जिसके स्थान पर किसी और चीज़ को आना चाहिये (जो अभी अज्ञात है) या यह कोई ऐसी चीज़ है जिसका रूपान्तर किया जाना है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ११, पृ. १४-१५

समर्पण तथा निरन्तर प्रगति

समर्पण का अर्थ यह नहीं है कि साधना में सतत, बाधारहित और सरल प्रगति हो। इसका कारण यह है कि अभी तक न तो तुम्हारी सत्ता एक हुई है, न तुम्हारा समर्पण ही अनन्य और पूर्ण हो पाया है। तुम्हारा एक भाग ही समर्पण करता है; आज एक भाग तो कल दूसरा। योग-साधना का सारा प्रयोजन ही यह है कि सत्ता के सभी बिखरे हुए भागों को इकट्ठा करके अविभाजित एकता में गढ़ा जाये। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक कठिनाइयों से—उदाहरण के लिए, सन्देह, उदासी या दुविधा जैसी कठिनाइयों से, तुम्हारा पिण्ड नहीं छूट सकता। सारा जगत् विष से भरा हुआ है। तुम हर साँस के साथ उसे अपने भीतर ले रहे हो। यदि तुम किसी अवाञ्छनीय मनुष्य के साथ थोड़ी-सी बातचीत करो अथवा इस प्रकार का मनुष्य तुम्हारे पास से होकर निकल जाये तो इतने से ही सम्भव

है कि तुम उसके संक्रामक रोग को ग्रहण कर लो। महामारी के पास से गुज़रना ही उसके ज़हर की छूत लग जाने के लिए पर्याप्त है; इस ज़हर की उपस्थिति का तुम्हें पता हो यह ज़रूरी नहीं होता। तुम्हारी महीनों की कमाई कुछ क्षणों में नष्ट हो सकती है। जब तक तुम मानवता के घेरे में हो और साधारण जीवन व्यतीत करते हो तब तक यदि तुम संसारी मनुष्यों से हिलो-मिलो तो इसमें कोई ख़ास चिन्ता की बात नहीं; किन्तु यदि तुम दिव्य जीवन की कामना रखते हो तो तुम्हें अपने संगी-साथी और अपनी परिस्थिति के बारे में बहुत सावधान रहना पड़ेगा।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ९

मैं 'तेरा' होना चाहता हूँ

तुमने एक बार भगवान् की ओर मुड़ कर कहा है : "मैं आपका होना चाहता हूँ," और भगवान् ने "हाँ" कह दिया है तो समस्त जगत् तुम्हें उनसे अलग नहीं रख सकता। जब केन्द्रीय सत्ता ने समर्पण कर दिया है तो मुख्य कठिनाई दूर हो गयी। बाह्य सत्ता तो एक पपड़ी की तरह है। साधारण लोगों में यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अन्दर के भगवान् से सचेतन नहीं हो पाते। परन्तु यदि आन्तर पुरुष ने एक बार, क्षण-भर के लिए ही सही, यह कह दिया है : "मैं यहाँ हूँ और मैं तुम्हारा हूँ", तो मानो एक पुल बँध जाता है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जाती है और एक दिन आयेगा जब दोनों भाग पूर्ण रूप से जुड़ जायेंगे और आन्तर तथा बाह्य दोनों एक हो जायेंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १०

अगर मैं एकाग्र नहीं हो सकता या ध्यान नहीं कर पाता तो मैं बस यह कल्पना करता हूँ कि मैं शाश्वत रूप से माँ की गोद में लेटा हुआ हूँ और केवल तभी बाहर निकलता हूँ जब वे मुझे बाहर भेजती हैं।

एकाग्रता का यह सर्वोत्तम सम्भव तरीक़ा है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १४७

श्रीमाँ के प्रति समर्पण

साधना के प्रमुख साधन

यह एकदम सत्य है कि अभीप्सा, त्याग और श्रीमाँ की स्मृति और उनके प्रति समर्पण तथा उनकी चेतना के साथ एकत्व साधना के मुख्य साधन हैं। यह भी सत्य है कि अपने लिए, अपने ही साधनों से अतिमन की खोज करना एक मूर्खता है; इसे मैंने प्रारम्भ में ही कहा है और अब अधिकाधिक बल के साथ कह रहा हूँ। यह भी सत्य है कि हमारा मुख्य लक्ष्य है, दिव्य प्रभु के साथ एकत्व और बाक़ी सब गौण है और बस इसका परिणाम है; साधक के लिए वह मात्र अपने लिए या अहंकार के लिए प्रगति, अनुभूति आदि की खोज नहीं कर रहा। यह मनोवृत्ति रखना उचित है कि अन्ततः यह सच है कि यदि साधक स्व-केन्द्रित हो, अहंकारपूर्ण और निराशापूर्ण हो तो ध्यान, अन्तर्दृष्टि और बाक़ी सब कुछ का योग में दुरुपयोग होगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि ध्यान, अन्तर्दृष्टि इत्यादि किसी काम के नहीं हैं और साधना में उनकी उपेक्षा करनी चाहिये।

यह सिद्धान्त कि एक बार तुमने श्रीमाँ को याद कर लिया तो हमेशा जो कुछ तुम करोगे वह दिव्य-प्रभु से आयेगा और इसलिए तुम कुछ भी कर सकते हो—यह एक ख़तरनाक स्थिति है। इससे तो अन्त में ऐसा हो जायेगा कि बहुत सारी चीज़ें जो तुम्हारी प्रकृति से निकल जानी चाहियें उनका त्याग करने की बजाय तुम उन्हें स्वीकृति दे दोगे।

जहाँ तक स्वतन्त्र बाह्य जीवन जीने की बात है, यह नहीं कहा जा सकता कि यह सबके लिए, सभी स्थितियों में उतना ही अच्छा है जितना कि अवकाश-प्राप्त जीवन सबके लिए, सभी स्थितियों में अच्छा होता है। केवल बाहरी हर्षोल्लास से भरा, मुक्त सामाजिक जीवन बिताना—जिसमें कोई नियम-क़ानून ही न हों—ऐसे जीवन की हानि यह होती है कि वह पूरी तरह से या अधिकतर बहिर्मुखी होता है और फिर सब तरह के प्राणिक आदान-प्रदान उसके अंग हो जाते हैं जो आन्तरिक प्रगति या भगवान् के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण के रास्ते आड़े आ सकते हैं। पूरी तरह से ऐकान्तिक जीवन बिताने की हानि यह होती है कि इससे व्यक्ति एकतरफ़ा बन जाता है और अपने-आपको मानों अपने अन्दर ही बन्द कर लेता है, यानी

आत्मनिष्ठ बन जाता है, जगत् के साथ स्वयं को सन्तुलित नहीं कर पाता और परिणामस्वरूप वह अपने अन्दर एक रुग्ण विकार और आत्म-वञ्चना का संकट लिये रहता है। जीवन का एक मध्यम-मार्ग भी है, वह है—अधिकाधिक अपने अन्दर निवास करना, बाहरी चीज़ों से अलग हट कर खड़े रहना, लेकिन उन्हें निकाल बाहर नहीं फेंक देना, उन्हें एक नयी चेतना, नयी दृष्टि से देखना और इस आन्तरिक चेतना के साथ उन पर क्रिया करना—यही सबसे अच्छा पथ है। लेकिन कइयों के लिए किन्हीं स्तरों पर यह आवश्यक हो जाता है कि नयी चेतना में स्थापित होने की प्रक्रिया में वे अपने बाह्य सम्पर्कों को कम-से-कम तो कर दें, लेकिन उन्हें समाप्त नहीं करें। वैसे इस मामले में कोई निरपेक्ष नियम नहीं लागू किया जा सकता। CWSA खण्ड ३२, पृ. १३७-३८

जिस प्रयास की माँग की जाती है

साधक से जिस प्रयास की माँग की जाती है वह है अभीप्सा, त्याग और आत्म-समर्पण। अगर ये तीनों चीज़ें की जायें तो फिर बाक़ी चीज़ें श्रीमाँ की कृपा से और तुम्हारे अन्दर उनकी शक्ति की क्रिया के कारण अपने-आप ही आयेंगी। परन्तु इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्म-समर्पण, और उसका प्रथम आवश्यक स्वरूप है कठिनाई के समय विश्वास, भरोसा और धैर्य। यह कोई नियम नहीं है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते हैं जब कि अभीप्सा भी हो। बल्कि इसके विपरीत, जब तामसिकता के दबाव के कारण अभीप्सा नहीं होती तब भी विश्वास, भरोसा और धैर्य विद्यमान रह सकते हैं। यदि अभीप्सा के प्रसुप्त रहने पर विश्वास और धैर्य साथ छोड़ दें तो इसका मतलब यह होगा कि साधक एकमात्र अपने निजी प्रयास पर ही निर्भर करता है—उसका अर्थ होगा—"ओह, मेरी अभीप्सा असफल हो गयी है, इसलिए अब मेरे लिए कोई आशा नहीं। मेरी अभीप्सा असफल हो रही है, इसलिए भला माताजी भी क्या कर सकती हैं?" पर, इसके विपरीत, साधक का भाव यह होना चाहिये—"कोई बात नहीं, मेरी अभीप्सा फिर से वापस आयेगी। इस बीच, मैं जानता हूँ कि जब मैं श्रीमाँ को अनुभव नहीं करता तब भी वे मेरे साथ हैं; वे मुझे अन्धकारमयी घड़ियों से भी पार करायेंगी।" यही पूर्णतः यथार्थ

भाव है जिसे तुम्हें अवश्य बनाये रखना चाहिये। जिनमें यह भाव होता है, अवसाद उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता; अगर अवसाद आता भी है तो उसे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वापस लौट जाना पड़ता है। यह चीज़ तामसिक आत्म-समर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण तो उसे कहते हैं जब मनुष्य कहता है कि "मैं कुछ भी नहीं करूँगा; श्रीमाँ सब कुछ कर दें। अभीप्सा, त्याग और आत्म-समर्पण भी आवश्यक नहीं हैं। माताजी ही मेरे अन्दर यह सब कर दें।" इन दोनों भावों में बहुत बड़ा अन्तर है।

एक भाव तो है उस पीछे हटने वाले का जो कुछ भी नहीं करना चाहता; और दूसरा है उस साधक का जो अपनी शक्ति-भर प्रयास करता है, पर जब वह कुछ समय के लिए अकर्मण्यता में जा गिरता है और चीज़ें विपरीत हो जाती हैं तब भी वह सब चीज़ों के पीछे विद्यमान श्रीमाँ की शक्ति और उपस्थिति में अपना विश्वास बनाये रखता है और उस विश्वास के द्वारा विरोधी शक्ति को चकमे में डाल देता है और साधना की क्रिया को फिर वापस ले आता है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १३९-४०

समर्पण का सार

जो मैं चाहता था कि तुम करो वह है १. अहंकार से पूरी तरह मुक्त होकर, सच्चे-सीधे-निष्कपट रूप में पूर्णतः माताजी के हाथों में अपने-आपको सौंप दो। २. अपने स्वभाव के अभ्यासगत दोषों के प्रति सचेतन होकर उन्हें अपने अन्दर से निकाल बाहर करो। ३. अपने अन्दर के अन्धकारमय भागों को प्रकाश की ओर उद्घाटित कर उनकी गति को बदल दो। लेकिन यहाँ एक मानसिक अलवेट है—बिना कुछ बचाये, अपने-आपको पूरी तरह सौंप दो—वाक्य का अर्थ यह है कि स्वयं को उस 'दिव्य शक्ति' के प्रति समर्पित करो, यह नहीं कि अपनी प्राणिक प्रकृति की किसी ग़लत गति को भगवान् मान बैठो, तब कोई विरोधी शक्ति तुम पर हावी होकर तुम्हें पूरी तरह से पथभ्रष्ट कर सकती है।

यही कारण है कि मैंने बार-बार कहा है कि समर्पण का अर्थ हाथ-पर-हाथ धरे बैठना नहीं है। तुम्हें सचेतन होकर दिव्य शक्ति के प्रति उत्सर्ग करना होगा और साथ-ही-साथ अपने अन्दर से निम्न स्वभाव की सभी गतियों का

उन्मूलन करते रहना होगा। माताजी के प्रति समर्पण का अर्थ है कि तुम इन दूसरी शक्तियों के अधीन होने से सतत इन्कार करते चलो। क्योंकि अगर तुम यह सोचने लगो कि सभी गतियाँ अन्ततः भागवत गतियाँ हैं तो यह तो इस योग के उद्देश्य का खण्डन करना होगा; इसलिए विवेक और त्याग, दोनों ही इस यात्रा के पाथेय और सहारे हैं तथा उत्सर्ग और समर्पण में साधक के सहायक हैं।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १४८-४९

अधिकतर साधकों में (विद्वेष तथा अकृतज्ञता के) समान विचार होते हैं, ये कभी-न-कभी उनके अन्दर से निकल पड़ते हैं। ये विचार उस प्राणिक अहंकार से उठते हैं जो न भगवान् को चाहता है और अगर चाहता भी है तो अपने निजी प्रयोजन के लिए, स्वयं भगवान् के लिए भगवान् को या उनका उद्देश्य सिद्ध करने के लिए उन्हें नहीं प्राप्त करना चाहता। वह अहंकार तब आपे से बाहर हो जाता है जब उस पर परिवर्तन के लिए ज़ोर डाला जाता है या जब उसकी कामनाओं को सन्तुष्ट नहीं किया जाता—यही है सभी चीज़ों की जड़—क्योंकि केवल समर्पण के द्वारा ही (विशेषकर प्राणिक अहंकार का समर्पण) ये चीज़ें जा सकती हैं—भगवान् के लिए भगवान् को स्वीकार करना, और किसी उद्देश्य के लिए नहीं और वह भी भागवत तरीक़े से उन्हें अपनाना, अपने तरीक़े या उन पर अपनी शर्तें लाद कर नहीं।

CWSA खण्ड २९, पृ. ७५

इन जटिलताओं को पोसने की कोई आवश्यकता नहीं। अगर चैत्य अभिव्यक्त हो जाये तो वह तुमसे यह नहीं कहेगा कि तुम उसके प्रति समर्पण करो, बल्कि कहेगा कि श्रीमाँ के प्रति समर्पित होओ।

CWSA खण्ड २९, पृ. ७८

श्रीमाँ की शक्ति की क्रिया द्वारा सब कुछ किया जा सकता है, तुम्हारी अभीप्सा, भक्ति तथा समर्पण उसमें सहायक होते हैं।

श्रीअरविन्द

'पुरोधा'

दैनन्दिनी

मई

१. यह केवल एक आशा ही नहीं बल्कि सुनिश्चित तथ्य है कि प्रकृति का पूर्ण रूपान्तर सिद्ध होकर रहेगा।

२. चाहे जितना लम्बा समय लगे, मनुष्य को डटे रहना चाहिये, केवल इसी तरह मनुष्य लक्ष्य पर पहुँच सकता है।

३. अधीर होना हमेशा ही एक भूल है, यह सहायता नहीं करता बल्कि रुकावट डालता है। स्थिर प्रसन्न श्रद्धा और विश्वास ही साधना का सर्वोत्तम आधार है... और उसके साथ-साथ ऐसी अभीप्सा रहनी चाहिये जो तीव्र तो हो, लेकिन हमेशा शान्त-स्थिर और अटूट हो। पूर्ण यौगिक सिद्धि एकदम तुरत-फुरत नहीं आती, वह आधार की एक दीर्घ तैयारी के बाद आती है जिसमें लम्बा समय लग सकता है।

४. अगर तुम हमेशा 'निम्नतर शक्तियों', 'आक्रमणों' और 'उनके द्वारा अधिकृत होने की बातों' आदि को ही सोचते रहोगे तो शान्ति और अचञ्चलता कैसे प्राप्त करोगे? अगर तुम स्वाभाविक और शान्त भाव से वस्तुओं की ओर देख सको, केवल तभी तुम अचञ्चलता और शान्ति प्राप्त कर सकते हो।

५. असफलता का कारण क्षमता का अभाव नहीं, बल्कि दृढ़ता का अभाव है...

६. अगर भगवान् के लिए किसी की चाह सर्वोच्च चाह बन जाये तो वह अवश्य ही बिना किसी मनस्ताप के उसी के प्रति अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर सकता है और समय, कठिनाई या परिश्रम के लिए शिकायत नहीं कर सकता।

७. अभीप्सा परम सत्य के पूर्ण अवतरण तथा जगत् में मिथ्यात्व के ऊपर विजय के लिए होनी चाहिये।

८. निस्सन्देह, तुम (महान् हुए बिना) योग कर सकते हो। महान् होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, विनम्रता सबसे पहली

आवश्यकता है, क्योंकि जिस व्यक्ति में अहंकार और गर्व है, वह परमोच्च सत्य को नहीं प्राप्त कर सकता।

९. अभीप्सा को विचार के रूप में होने की कोई आवश्यकता नहीं—यह अन्दर की एक भावना हो सकती है जो उस समय भी बनी रहती है जब मन कार्य में संलग्न रहता है।

१०. "खींचने का भाव" साधारणतया स्वयं अपने लिए चीज़ें प्राप्त करने की कामना से आता है—अभीप्सा में एक प्रकार के आत्म-समर्पण का भाव होता है कि उच्चतर चेतना अवतरित हो अधिकार जमा ले—जितनी तीव्र पुकार होती है उतना ही तीव्र आत्म-समर्पण का भाव होता है।

११. जब उच्चतर चेतना की शान्ति अवतरित होती है तो वह हमेशा समता की प्रवृत्ति को अपने साथ ले आती है, क्योंकि समता के बिना निम्नतर प्रकृति की लहरों के द्वारा शान्ति पर आक्रमण होने की सम्भावना हमेशा बनी रहती है।

१२. अचल-अटल बने रहो, निरुत्साहित हुए बिना अपना कार्य करते चलो, दिव्य शक्ति को अपने कार्य में सहायता देने के लिए पुकारो। तुम्हारे लिए यह परीक्षा का क्षेत्र है—बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक परिणाम पाना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

१३. यह बहुत सच है कि भौतिक वस्तुओं के अन्दर एक चेतना होती है जो प्यार को अनुभव करती और प्रत्युत्तर देती है तथा असावधानीपूर्ण स्पर्श और कठोर व्यवहार के प्रति संवेदनशील होती है। इसे जानना या अनुभव करना और उनके विषय में सावधान होना चेतना की एक महान् प्रगति है।

१४. एकाग्रता करने में सबसे अधिक सहायक चीज़ है—अपने मन में श्रीमाँ की स्थिरता और शान्ति को ग्रहण करना। यह तुम्हारे ऊपर विद्यमान है—केवल मन और उसके केन्द्रों को उसकी ओर खुलने की आवश्यकता है।

१५. जैसे-जैसे भगवान् के प्रति प्रेम बढ़ता है वैसे-वैसे अन्य चीज़ें मन को सताना बन्द करती जाती हैं।

१६. वास्तव में इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि दूसरे तुम्हारे बारे में

क्या सोचते हैं, महत्त्व बस इस बात का है कि तुम स्वयं क्या हो।

१७. मैं तुमसे कहूँगा कि तुम क्रोध या अन्य किसी प्रवृत्ति को अपने अन्दर उठने न दो या उनके हाँके न चलो। इन सब चीज़ों को दूर हटा दो और यह समझो कि अन्दर शान्ति पाना तथा भगवान् की खोज करना ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात है—झगड़े तो महज़ अहंकार के विस्फोट हैं। बस, प्रभु के चिन्तन की ओर मुड़ जाओ और सबके लिए एक शान्त सद्भावना बनाये रखो।

१८. बिना हिचकिचाये मन और हृदय दोनों में दूसरे का मंगल चाहना ही सर्वोत्तम सहायता है जो मनुष्य दूसरे को दे सकता है।

१९. प्रत्येक भौतिक वस्तु में एक चेतना होती है जिसके साथ मनुष्य सम्पर्क कर सकता है। प्रत्येक वस्तु की—मकान, मोटरगाड़ी, साज-सामान आदि की एक प्रकार की व्यष्टि-सत्ता होती है। प्राचीन युग के लोग इसे जानते थे और इसीलिए वे प्रत्येक भौतिक वस्तु में एक आत्मा या 'अधिदेवता' देखते थे।

२०. भौतिक चीज़ों को बुरी तरह इस्तेमाल करना, असावधानीवश तोड़-फोड़ देना, नष्ट करना और उठा-पटक कर उनके साथ कुव्यवहार करना यौगिक चेतना को अस्वीकार करना है और यह जड़-भौतिक स्तर पर भागवत सत्य को उतार लाने में एक महान् बाधा है।

२१. निर्दोष सेवक बनने की शर्त है—सभी अहंकारपूर्ण प्रयोजनों से दूर रहना, वाणी और कर्म में हमेशा सच्चे रहना, अपनी ही सनकों और अपने आग्रहों पर डटे न रहना, तथा सभी बातों में जाग्रत् और सचेतन रहना।

२२. शान्ति और धैर्य एक साथ रहते हैं। सभी प्रकार के दबाव के अधीन धैर्य बनाये रख कर तुम शान्ति का आधार स्थापित कर सकते हो।

२३. तैयारी से मेरा मतलब क्षमता नहीं बल्कि इच्छुकता है। अगर सभी कठिनाइयों का सामना करने तथा अन्त तक जाने का संकल्प अन्दर हो तो पथ को ग्रहण किया जा सकता है, फिर चाहे जितना भी लम्बा समय क्यों न लगे, उसकी ज़रा भी परवाह न करो।

२४. साधारण जीवन से नितान्त अशान्त असन्तोष ही इस योग के लिए पर्याप्त तैयारी नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में सफलता पाने के लिए

एक सुनिश्चित आन्तरिक पुकार, प्रबल संकल्प तथा महान् दृढ़ता का होना आवश्यक है।

२५. सच पूछो तो ध्यान (मनके द्वारा चिन्तन) नहीं, बल्कि एकाग्रता अथवा चेतना को मोड़ देना महत्त्वपूर्ण है—और वह सभी कर्मों में या चिन्तन-मनन के लिए बैठे रहने पर भी हो सकता है।

२६. जो मनुष्य यह चाहता है कि उसका योग शान्ति या हर्ष का पथ हो उसे अपने बाहरी मन और भावनात्मक प्रकृति के बदले अपनी अन्तरात्मा में निवास करने के लिए तैयार होना चाहिये।

२७. पीड़ा, जलन, बेचैनी, रोना-धोना और काम करने की असमर्थता जिनका तुम अनुभव करते हो, तब आती हैं जब तुम्हारी प्रकृति के किसी भाग में कोई कठिनाई या प्रतिरोध होता है। इसके आने पर श्रीमाँ को पुकारो और इन वस्तुओं का त्याग करो; शान्ति और अचञ्चलता को अपने मन में लौटा लाने और हृदय में स्थिर करने के लिए उनकी ओर मुड़ो ताकि इन दूसरी चीज़ों के लिए वहाँ कोई स्थान न रहे।

२८. स्पष्ट ही इन सभी अहंकारमयी चीज़ों को हटना ही होगा—यह मानव सत्ता का पुरातन प्राणिक अहंकार है जो हमेशा अपने अन्दर डूबा रहता है, और इस कारण सत्ता अपने-आपको भगवान् की आराधना के लिए आसानी से और बिना ननुनच के अर्पित नहीं कर सकती।

२९. जब तुम शक्ति को अनुभव करते हो तब शक्ति की ओर ही मुड़ो और उसे कार्य करने दो—एकमात्र यह शक्ति ही तुम्हें इस अस्त-व्यस्तता और अन्धकार से मुक्त कर सकती है, न कि तुम या तुम्हारा मनन-चिन्तन और संघर्ष।

३०. यह जाँच करने से क्या फ़ायदा कि तुम्हारी श्रद्धा और विश्वास 'सच्चे' हैं या नहीं? शक्ति को अनुभव करना, शान्त-स्थिर बने रहना और उस शक्ति को कार्य करने देना ही बस आवश्यक है।

३१. अगर तुम लगातार अभीप्सा करते रहो और अपने अन्दर शान्ति को बढ़ते रहने और शक्ति को कार्य करते रहने दो तो चैत्य के प्रति उद्घाटन हो जायेगा।

श्रीअरविन्द के पत्रों से संकलित

दिव्यता में गढ़न

सृष्टि के उषाकाल से ही नव-युग, सत्य-युग या स्वर्ण-युग की आशा, अभिलाषा और प्रतिज्ञा धरती के वासियों के लिए हमेशा से सबल रही है। साधारणतः आदमी की आशा जब पूरी नहीं हो पाती तो उदासी, निराशा और अवसाद आ जाते हैं, लेकिन इस विषय में आशा हमेशा आगे खिसकते हुए भी हरी बनी रही, बल्कि यूँ कहें कि जैसे-जैसे समय बीतता गया यह आशा और ज़्यादा मज़बूत और सजीव होती गयी है। आज चारों ओर की अँधेरी निराशाजनक स्थिति के बावजूद यह आशा ज़्यादा-ज़्यादा मज़बूत और अनिवार्य रूप लेती जा रही है जैसे पतझड़ के दिनों में ऊपर से देखने में फूल-पत्ते झड़ जाते हैं, शाखाएँ सूख जाती हैं पर पेड़ के अन्दर एक नये जीवन का रस हिलोरें मारने लगता है और ठीक समय पर वसन्त की नयी कोंपलों और कलियों के रूप में चारों ओर फूट पड़ता है।

दुनिया-भर में, विविध धर्मों और संस्कृतियों में यह आशा उस भावी घटना के अलग-अलग परन्तु भीतर से बहुत कुछ एक से रूप की कल्पना करती है और आश्वासन दिलाती है। सन् १९३९ में ईरान के एक सन्त की पुस्तक प्रकाशित हुई थी 'मानव और भावी संस्कृति'। सन्त ने उस चीज़ को परिवारों और क़बीलों की नहीं, समस्त मानवजाति की, एक देश से दूसरे देश की यात्रा के रूप में देखा है। यह विचार बाइबल पर आधारित है। चुनी हुई मानवजाति को उसके पथ-प्रदर्शक अभावग्रस्त कारा से निकाल कर दूध और शहद की नदियोंवाले देश में ले जा रहे हैं जो उनका अपना घर है। मानवजाति सामान्य चेतना की कारा में बन्द है, यह संकीर्ण, अहंकारपूर्ण, परती भूमि है जहाँ उच्चतर गतिविधियों के लिए स्थान नहीं है, यहाँ ये अपनी पूर्णता को नहीं प्राप्त हो सकतीं। हमें इस कारारूपी देश से निकल कर सशरीर एक दूसरे देश में जाना है जहाँ चेतना के क्षेत्र अधिक विशाल, अधिक फलदायी हैं और प्रकाश तथा आनन्द से भरे हैं।

अन्दर की माँग बहुत ज़बरदस्त है, चेतना की विजय अनिवार्य है फिर भी पुरानी आदतों के साथ हमारे बन्धन की रस्सियों को काटना आसान नहीं है। अहं में निहित स्वार्थ, अलग करती व्यक्तिगत चेतना आदि के विविध रूप हमें दूसरी ओर बढ़ने नहीं देते। अतः, स्वाभाविक रूप से

मानवजाति दो दलों में बँट जाती है : एक तो वह दल जिसने आगे बढ़ने की, इस गर्त में से निकलने की आवश्यकता अनुभव की है, जिन्होंने अन्दर की पुकार सुनी है और दूसरा दल वह है जो "अपनी-अपनी खाल में सब ही जीव खुसियार", जो जहाँ हैं वहीं पड़े रहने में सन्तुष्ट हो जाते हैं। और जिनकी आन्तरिक चेतना ऊपर उठना भी चाहती है उनमें काफ़ी सारे ऐसे हैं जिनका अन्तर तो चाहता है पर बाह्य सत्ता का काफ़ी बड़ा भाग डुबकी लगाते हुए डरता है, वह अपनी दुर्बलता का शिकार है। ऐसे लोग समझौते का मार्ग अपनाते हैं, बासी कढ़ी फिर से उबाल देना चाहते हैं। ऐसे लोग कहीं के न रहेंगे। भूत से उनकी जड़ें कट गयीं और भविष्य में कोई स्थान न मिला—'न ख़ुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के रहे न उधर के रहे।'

यहाँ यात्रा के रूपक से हमारा मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति इस संसार से पूरी तरह कट जाये और केवल ध्यान-धारणा, समाधि का आनन्द लेता रहे। यात्रा चेतना की है, चेतना के रथ की नहीं। चेतना उच्चतर क्षेत्रों में चली जाये तो शरीर भी अपने-आपको बदल लेगा। वह भी संकीर्ण, अन्धकारमय और कठोर न रह कर प्रकाशमान, लचीला, उच्चतर चेतना को प्रतिबिम्बित करने-योग्य बन जायेगा ताकि वह नयी चेतना का वाहन बन सके। स्वर्ग का राज्य, सच्चा गोकुल हमारे भीतर है लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि भीतर ही है, बाहर नहीं। जो चेतना हमारे बाहरी जीवन को परिचालित करती है उसे यहाँ से हट कर दिव्य जगत् का वासी बन जाना चाहिये, उस जगत् का जो भीतर भी है और परे भी। वहाँ तक पहुँच कर, उस जगत् का नागरिक बन कर उसे फिर यहाँ लौटना होगा ताकि हमारे बाहरी जीवन को भी दिव्यता में गढ़ सके। उसे भी एक नया दिव्य रूप दे सके।

(नलिनीकान्त गुप्त के एक लेख पर आधारित)

हर क्षण समस्त अप्रत्याशित, अनपेक्षित, अज्ञात हमारे सामने होता है—और हमें क्या होता है, यह सामान्यतः हमारी श्रद्धा की तीव्रता और पवित्रता पर निर्भर करता है।

श्रीमाँ

दिव्य शरीर में दिव्य जीवन

रातों के बारे में

रात और दिन की नींद के बारे में माताजी ने कहा है कि यह व्यक्तिगत आवश्यकता की बात है। उन्होंने रात की या दिन की नींद में कोई फ़र्क नहीं किया है। अगर दोपहर को थोड़ी देर की नींद ज़रूरी है तो तुम सोओ। महत्त्व है तुम्हारी नींद की प्रकृति का। माताजी ने कहा है कि तुम नींद में ध्यान द्वारा उच्चतम स्तर तक जा सकते हो, तुम बीस मिनट में अपनी सारी ऊर्जा वापस पा सकते हो। बाक़ी रात में तुम अपना गुह्य कार्य कर सकते हो। नींद में किया गया गुह्य कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अगर लोग यह करना जानें तो वे अधिक पूर्ण जीवन बिता सकेंगे।

नींद और स्वप्न के बारे में दो और बातें जाननी ज़रूरी हैं। कुछ लोगों को काम-वासना के स्वप्न आते हैं। उनके ऊपर कैसे अधिकार किया जाये? माताजी ने कहा है कि अगर तुम योगाभ्यास करते हो तो इस तरह का एक स्वप्न ही तुम्हारे महीनों के कठिन काम को, प्रगति को तबाह करने के लिए काफ़ी है। योग का लक्ष्य है, काम-वासना को केवल वश में करना नहीं—हालाँकि यह भी बहुत आवश्यक है—बल्कि उसका विलोपन और रूपान्तरण। इसके लिए माताजी ने बहुत व्यावहारिक सलाह दी है, उन्होंने सोने से पहले ठण्डे पानी से स्नान का सुझाव दिया है। उसके बाद तुम संकल्प करके प्रकाश पर ध्यान लगाओ और तुम यह देख कर आश्चर्य में पड़ जाओगे कि इससे ग़लत स्वप्नों के विलोपन में कितनी सहायता मिलती है। जो लोग श्रीअरविन्द के योग का अभ्यास कर रहे हैं और भौतिक शरीर के रूपान्तर की अभीप्सा करते हैं, उनके लिए यह बहुत ज़रूरी है क्योंकि अतिभोग मनुष्य को मृत्यु के निकट ले जाता है। मैं फिर से कहूँगा, आवेश को दबाना और वश में करना नहीं, बल्कि उसे रूपान्तरित करने की ज़रूरत है।

एक और बात के बारे में जानना ज़रूरी है, वह है सोते हुए बोलने की आदत। लोग सपने में बोलते हैं। वे क्या बोलते हैं? माताजी ने बतलाया है कि कुछ लोगों का मन बाहर निकल जाता है, वे नहीं बोलते; लेकिन

जब मन शरीर से लगा रहता है तो वे अपने अनुभवों के बारे में, वे जो कुछ देखते हैं उसके बारे में, दुःस्वप्नों के बारे में बोलते हैं। मन सोचता है और शरीर व्यक्त करता है।

माताजी ने उस स्थिति के बारे में भी बतलाया है जिसमें लोग नींद में चलते हैं। उन्होंने बतलाया है कि ऐसे लोग खड़ी दीवार पर चल लेते हैं जिस पर चलना उनके लिए साधारण स्थिति में असम्भव होगा। उन्होंने बतलाया है कि कभी सूक्ष्म शारीरिक चेतना बाहर चली जाती है, परन्तु शरीर उससे इतना अधिक आसक्त होता है कि भौतिक शरीर भी उसके साथ चल पड़ता है, इसीलिए लोग नींद में चलते हैं। उन्होंने कहा है कि अगर तुम ऐसी स्थिति को रोकना चाहो तो तुम्हें अपने संकल्प का उपयोग करना चाहिये क्योंकि संकल्प ही मुख्य यन्त्र है। तुम ध्यान करो और यह इच्छा करो कि ऐसा न हो। अगर तुमने योग में काफ़ी प्रगति कर ली है तो तुम औरों पर भी अपने संकल्प का उपयोग कर सकते हो, तुम उन पर ध्यान लगा कर एकाग्र हो सकते हो और अपनी इच्छा-शक्ति को उनकी इच्छा-शक्ति के साथ जोड़ सकते हो ताकि वह ज़्यादा मज़बूत बन सके। माताजी और श्रीअरविन्द ने इन चीज़ों के बारे में काफ़ी विस्तार से कहा है, मैं तो बहुत संक्षेप में कह रहा हूँ।

एक बार श्रीअरविन्द से पूछा गया था कि अगर कोई हम पर स्वप्न में आक्रमण कर रहा है तो क्या हम यह सोच सकते हैं कि वह हमारा शत्रु है और हमें नुक़सान पहुँचाना चाहता है? श्रीअरविन्द ने कहा कि ऐसी बात नहीं है। यह भी हो सकता है कि तुम सोच रहे थे कि वह तुम्हारा वैरी है और इसी कारण तुमने उसे अपने स्वप्न में इस रूप में देखा। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वैरी है ही। तुम्हारे विचार ने, तुम्हारी कल्पना ने ही उसे यह रूप दे दिया है।

तो हम देखते हैं कि ऐसे स्वप्न होते हैं जो हमारी कल्पना के परिणाम हों और ऐसे भी स्वप्न होते हैं जो कल्पना नहीं सच्ची अनुभूतियाँ होते हैं, और ऐसे अन्तर्दर्शन होते हैं जो स्वप्नों से भिन्न होते हैं। कुछ लोग जाग कर कहते हैं, "आह! आज बड़ी अच्छी नींद आयी, कोई स्वप्न नहीं देखा।" ये बातें अधिकतर ग़लत होती हैं। तुम्हें स्वप्न तब नहीं आते जब तुम अवचेतना में चले जाते हो, जब तुम बहुत थक जाते हो। हाँ, तब तुम

अवचेतना में चले जाते हो और ऐसी अवस्था में अगर तुम सो जाओ तो कोई स्वप्न नहीं दिखायी देता। लेकिन अगर तुम सचेतन लोकों में जाते हो तो स्वप्न तो आते हैं पर याद नहीं रहते और इसीलिए तुम कहते हो कि मैंने कोई स्वप्न नहीं देखा। यह कैसे होता है? और कभी-कभी स्वप्न मिल-जुल कैसे जाते हैं? तुम उनका सिर-पैर ठीक नहीं कर पाते। जब तुम सोते हो तो तुम्हारा भौतिक शरीर तो सो जाता है, साधारणतः सूक्ष्म भौतिक और प्राणिक भाग भी सो जाता है पर मन जगा रहता है। हो सकता है कि वह उस समय सृजन करे, किसी समस्या के बारे में विचार करे, किसी और चीज़ के बारे में सोच रहा हो, वह सोचने, विचारने, कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र होता है, मनोमय लोक में घूम सकता है क्योंकि उस पर दिन का वह संयम नहीं बना रहता, लेकिन कुछ समय के बाद मन भी थक जाता है और आराम करने की कोशिश करता है, सोने चला जाता है और प्राण जाग पड़ता है। प्राण आवेशों, आवेगों और अपने बनाये हुए आकारों से भरा होता है, उसकी अपनी अनुभूतियाँ होती हैं। इस भाँति तुम अपने सपनों में मिश्रित आकृतियाँ देखते हो। कभी-कभी हम स्वप्न में लोगों से मिलते-जुलते हैं। माताजी और श्रीअरविन्द से पूछा गया था कि क्या ऐसी अवस्था में हम सचमुच उनसे मिलते हैं और सचमुच क्या होता है? तो उन्होंने कहा कि बहुत-सी सम्भावनाएँ हैं जिनमें से एक यह है कि हमारे सूक्ष्म शरीर मिलते हैं, भले भौतिक स्तर पर हम न मिले हों। यह कल्पना भी हो सकती है। हर मामले का हमें परिस्थितियों के अनुसार अध्ययन करना होगा। तब हम जान पायेंगे कि सचमुच हमारे स्वप्नों में क्या होता है।

स्वप्नों का विषय बहुत बड़ा है। हमें अपनी रातों को भी उसी तरह प्रशिक्षित करना चाहिये जैसे दिन को। अगर हम ठीक तरह से रातों को प्रशिक्षित करें तो उससे अगली स्थिति तक प्रगति करने में बहुत सहायता मिलेगी।

(क्रमशः)

—नवजातजी

शरीर की वर्तमान स्थिति में नींद अनिवार्य है। अवचेतन पर क्रमिक नियन्त्रण के द्वारा नींद ज़्यादा-ज़्यादा सचेतन हो सकती है।

श्रीमाँ

एक शिष्या के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार

(एक शिष्या के नाम पत्र जो १९४४ में आठ वर्ष की उम्र में आश्रम आयी थीं और ग्यारह वर्ष की उम्र में यहाँ के शारीरिक शिक्षण-विभाग में कप्तान बन गयीं। उन्होंने तीस वर्षों तक इस विभाग का कार्य किया।)

जिन सत्ताओं का एक जीवन में आपके साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है क्या वे अपने नये जीवनों में हमेशा लौट कर आपके पास ही आती हैं?

ऐसी सत्ताओं की संख्या बहुत कम है जो अपने चुने हुए स्थान पर सचेतन रूप से वापस आती हैं।

जो वापस आयी हैं वे अधिकतर ऐसी सत्ताएँ हैं जिन्होंने अपना शरीर छोड़ने से पहले नये शरीर में वापस आने की माँग की थी।

लेकिन सब कुछ सम्भव है।

आशीर्वाद। २८ मार्च १९७०

मधुर माँ,

अपने पूर्वजन्मों को याद करना कैसे सम्भव है?

चैत्य के साथ सम्पर्क से तुम्हें पूर्वजन्मों की आंशिक स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं—उन घटनाओं की स्मृति जिनमें चैत्य ने हिस्सा लिया था।

यह तब सहज रूप से होता है जब चैत्य के ये समान तत्त्व फिर से क्रियाशील हो उठते हैं।

जान-बूझ कर किये गये किसी भी मानसिक प्रयास में भ्रामक कल्पनाओं को लाने की सम्भावना बनी रहती है।

आशीर्वाद। ३ अप्रैल १९७०

मधुर माँ,

जब विशेष तारीख़ें होती हैं तो क्या उन दिनों जगत् में विशेष

शक्तियाँ कार्यरत होती हैं?

आज, श्रीअरविन्द के यहाँ आने की ६०वीं जयन्ती पर कौन-सी विशेष बात हो रही है?

शक्तियाँ हमेशा इस प्रतीक्षा में उपस्थित रहती हैं कि कोई उन्हें ग्रहण करे। विशेष तारीख़ों का उत्सव मुख्य रूप से मन्द स्मृतियों और कुण्ठित ग्रहणशीलताओं को जगाने के लिए मनाया जाता है। वास्तव में पॉण्डिचेरी शहर को यह ६०वीं जयन्ती मनानी चाहिये थी, क्योंकि श्रीअरविन्द के आगमन ने इसकी नियति को बहुत अधिक बदल दिया है।

आशीर्वाद। ४ अप्रैल १९७०

बच्चे के जन्म के पहले से ही माँ अपने मनोभाव तथा अपने विचारों से अपने बच्चे को शिक्षा देना आरम्भ कर सकती है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ। १६ जुलाई १९७०

स्वयं तुम्हारी सत्ता की गहराइयों में, तुम्हारे वक्ष की गहराई में, ज्योतिर्मयी तथा शान्त, प्रेम तथा प्रज्ञा से भरपूर 'भागवत उपस्थिति' हमेशा विराजमान रहती है। वह वहाँ इसलिए है कि तुम उसके साथ तदात्म हो सको और वह तुम्हें एक ज्योतिर्मयी तथा दीप्त चेतना में रूपान्तरित कर दे।

मैं और तुम दोनों मिल कर तुम्हारी सत्ता की सतह के समस्त बाहरी शोर को शान्त करने की कोशिश करेंगे ताकि निश्चल-नीरवता तथा शान्ति में तुम इस आन्तरिक भव्यता के साथ एक हो सको।

तब वह दिवस तुम्हारे नूतन जन्म का दिवस बन जायेगा।

१ अगस्त १९७०

नीरव रहना जानना कभी-कभी अमूल्य निधि होता है।
नीरवता सच्चे ज्ञान का दरवाज़ा खोल देती है।

२ अगस्त १९७०

मैंने तुम्हारी सत्ता के अन्दर सीधी खड़ी तुम्हारी चैत्य सत्ता को देखा

जो तुम्हारे जीवन के उत्तरदायित्वों को लेने और तुम्हें परम प्रकाश और परम सत्य तक ले जाने के लिए प्रस्तुत थी। उसकी गरिमा महान् है, उसका संकल्प अचूक है। वह जीत हासिल करेगी।

३ अगस्त १९७०

तुम्हारी चैत्य सत्ता मूर्ति की तरह अचल लेकिन सचेत और जागरूक, तुम्हें भगवान् की ओर ले जाने के लिए तुम्हारे जीवन की निगरानी कर रही है।

५ अगस्त १९७०

प्रकाश तथा शान्ति में तुम्हारी चैत्य सत्ता... दीप्त है।

६ अगस्त १९७०

तुम्हारा हृदय दीप्त सुजनता का घर है; वह तुम्हारी सारी सत्ता पर राज करे।

प्रेम। २९ अक्तूबर १९७०

शब्दों की अपेक्षा—चाहे वे कितने भी शक्तिशाली क्यों न हों—नीरवता में अधिक महान् शक्ति होती है। सबसे अधिक महान् रूपान्तरों को एकाग्रता की नीरवता में ही प्राप्त किया गया है।

२ नवम्बर १९७०

सभी परिस्थितियों में मुस्कुराना जानना भागवत प्रज्ञा की ओर जाने का सबसे शीघ्रगामी रास्ता है।

अहंकार नाराज़ और बेचैन हो उठता है और यही अहंकार तुम्हारी चेतना को धुँधला बनाता और तुम्हारी प्रगति में बाधा डालता है।

अहंकार इसलिए नहीं बदलता क्योंकि उसे इस निश्चिति का अनुभव होता है कि वह हमेशा ठीक होता है।

आशीर्वाद। २४ नवम्बर १९७०

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ४७५-७८

वह समर्पित नन्हा किशोर

टेरेंस ओ डॉनेल सचमुच लेखक नहीं इतिहासकार हैं, लेकिन उनके क़लम से निकली यह कहानी क्या उन्हें महान् लेखकों के समकक्ष न खड़ा कर देगी?

भगवान् जाने उनका नाम क्या था, आख़िर नाम में ऐसा क्या रखा है, लेकिन मैंने उन्हें मारिया कहना शुरू कर दिया था और मेरे लिए वे जीवन-भर वही रहीं। पहली बार मेरी नज़र मारिया पर तब पड़ी थी जब वे उस छोटी-सी पहाड़ी पर चढ़ रही थीं जो अस्पताल तक पहुँचाती थी —रूखे-सूखे बालोंवाली, सामान्य चेहरे-मोहरे की मालिक, नर्स की पोशाक पहने उन महिला में शायद ऐसा कुछ न था कि मुड़ कर दोबारा उन्हें देखा जाये, लेकिन मैं मुड़ा—उन आँखों ने मुझे मजबूर किया उन्हें दोबारा देखने पर—कितना विरोधाभास-सा था उन आँखों में जो एक तरह की शिथिल उदासी से भरी होने के बावजूद चमक रही थीं—मानों सुख और दुःख दोनों ही तैर रहे थे उन बड़े-बड़े नेत्रों में। अनायास हम दोनों के बीच एक हलकी-सी मुस्कान खिंच गयी और हमने परस्पर मूक अभिवादन किया।

मैं था उस अस्पताल में जूनियर डॉक्टर और मारिया थीं एक विशेष पद पर—ऐसे सभी मरीज़ों की मसीहा जो जीवन की बाज़ी हार बैठने पर तुले हुए थे। उन्होंने ऐसे कितनों ही को आशा बँधा-बँधा कर उनके हाथों से छुटी हुई जीवन की डोर फिर से उन्हें थमा दी थी—इसका कोई हिसाब नहीं। अपने शरीर, अपने लिबास वगैरह से बेख़बर मारिया मरीज़ों का ऐसा ख़याल रखतीं कि आदमी दाँतों तले अँगुली दबा कर ठिठका-सा खड़ा रह जाता।

अस्पताल में सबकी दोस्त थीं मारिया। सहज रूप से मुझे भी उन्होंने अपना लिया। उस रोज़ उनके चित्रों की एलबम देख रहा था मैं...

"क्या ये आप ही हैं...?" मैं एक षोडशी का चित्र दिखा कर पूछ बैठा। "विश्वास ही नहीं होता, सच।"

वे मुस्कुरा उठीं। यहीं से शुरू हुई मेरे लिए मारिया की कहानी। दूसरी सामान्य लड़कियों की तरह मारिया ने भी अपने सुन्दर सपने सँजोये थे। बनना-सँवरना, इठलाना-मटकना उसे भी बेहद पसन्द था। हर एक युवा किशोरी की तरह वह भी अपने जीवन को भरपूर रूप से जीना चाहती थी।

अठारह साल की होते-न-होते उसने सगाई कर ली। शादी के कुछ ही दिन बाक़ी थे कि उसके जीवन का रुख़ एकदम से पलट गया। उसका चहेता भाई जो एक साल पहले कनाडा के किसी गाँव में अपना भविष्य आज़माने गया था, गम्भीर रूप से वहाँ बीमार पड़ गया। मारिया ने अपने भावी पति और परिवार को सूचना दे दी कि वह कनाडा जा रही है, भाई के स्वस्थ हो जाने पर लौटेगी। शादी रुक सकती है, बीमार भाई की तीमारदारी नहीं।

कनाडा की दिल दहला देने वाली सर्दियों में मारिया ने बर्फ़ के सोतों को तोड़-तोड़ कर पानी निकाला, जंगल में जाकर लकड़ियाँ काटीं, गायें दुहीं, डबलरोटियाँ बनायीं और न जाने कौन-कौन से पापड़ बेले। यानी, आधुनिकता से लैस किशोरी ने उस गाँव में जाकर परिश्रम-भरा वह हर काम किया जिसे करने की बात वह कभी सपने में भी नहीं सोच सकती थी। और साथ ही मारिया अपनी लगन व सेवा से भाई को सचमुच मौत के चंगुल से छुड़ा लायी। साल-भर तक उस गाँव में रहने के बाद तो मारिया की ज़िन्दगी और ज़िन्दगी का नज़रिया ही बदल गया। भाई स्वस्थ होकर वापस अपने घर—इंग्लैण्ड—जाना चाहता था, लेकिन मारिया का मन पलट गया था। वह ताम-झाम के उस जीवन में दोबारा वापस नहीं जाना चाहती थी। हर किशोरी की तरह विवाह के बन्धन में बँधना न चाहती थी, उसे अपना जीवन समर्पित करना था किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि किसी महान् उद्देश्य के लिए।

भाई अकेला ही इंग्लैण्ड लौट गया। मारिया ने कनाडा के एक अस्पताल में नर्सिंग के प्रशिक्षण के लिए आवेदन-पत्र भेजा और वे चुन ली गयीं। आज से ७०-८० साल पहले नर्स का प्रशिक्षण पाना कोई हँसी-खेल न था—उसमें अस्पताल के बड़े-बड़े अँधेरे, सीलन-भरे, बदबूदार कमरों के फ़र्श को घिसने के साथ-साथ वहाँ के अकल्पनीय ग़ुसलख़ानों तक की सफ़ाई करनी पड़ती थी। उस ज़माने के अस्पताल जेलों से कम न लगते थे—उदासी, मनहूसी, मौत की दहशत पुती रहती थी उन पर। मारिया ने अपने बल-बूते पर, अपने उदाहरण द्वारा उस मनहूसियत को खदेड़ने का बीड़ा उठाया और वे अपनी साधना में जुट गयीं।

कनाडा का वह अस्पताल मारिया के अनथक परिश्रम से सचमुच चमक उठा। अस्पताल के रख-रखाव, सफ़ाई इत्यादि से लेकर वहाँ के मरीज़ों

के खाने-पीने, दवाइयों की ठीक व्यवस्था और उन्हें अपना प्यार लुटाने में उन्होंने अपने-आपको खपा दिया। और फिर तो वे सचमुच मसीहा बन गयीं। जीवन की बाज़ी हारे लोगों को बाज़ी जिताने का कौशल न जाने उन्होंने कैसे हस्तगत कर लिया। ऐसे सैकड़ों "निराशाजनक केस" आये जिन्हें मारिया ने अपने प्यार और अपनी सेवा से न केवल भला-चंगा कर दिया बल्कि जीवन की रौ में उन्हें पूरी तरह से वापस उतार भी दिया।

वे दूर-दराज़ तक मशहूर बन गयीं। उनके कितने ही भूतपूर्व मरीज़ अपने जीवनदाता और त्राता के पास हर साल मिलने आते इसका हिसाब रखना वाकई मुश्किल था।

चालीस-पैंतालीस साल के सतत परिश्रम के बाद एक दिन मारिया ने इस काम से निवृत्त होकर स्विट्ज़रलैण्ड के पहाड़ों पर अपना बाक़ी जीवन बिताने का निश्चय कर लिया, लेकिन... बिधना के मन कछु और...।

उसी दोपहर, उनके फ़ोन की घण्टी बजी—

"क्या तुम बारह साल के मेरे एक ऐसे मरीज़ को लोगी जिसका..."

"लेकिन सर, मैंने अब सेवा-निवृत्त होने का फ़ैसला कर लिया है, माफ़ कीजियेगा, लेकिन अब मैं..." मारिया ने कहना चाहा।

लेकिन डॉक्टर के कानों में मानों उनकी आवाज़ पड़ी ही नहीं। वे बोलते रहे, "देखो नर्स, वैसे इस बच्चे के बचने की उम्मीद नहीं के बराबर है, इसके १५ बड़े ऑपरेशन हो चुके हैं, १०० बार इसके शरीर का खून बदला जा चुका है और साल-भर से इसे हफ़्ते में कम-से-कम पाँच दिन तो बुख़ार रहता ही है। यह बच्चा भी अपनी ज़िन्दगी से तंग आ गया है, न ही इसके बचने के कोई आसार हमें नज़र आ रहे हैं। अगर तुम इसके अन्तिम दिनों में इसे अपने पास रख सको तो हम सब तुम्हारे बहुत आभारी होंगे। देखो, मना मत करना अब..."

मारिया के पास मना करने की कोई गुंजायश ही न रही।

उसी शाम नया मरीज़ अस्पताल में मौजूद था। मारिया ने उसकी बीमारी के 'चार्ट' को देखा। उसके कमरे में गयीं और पहली तीन चीज़ें उन्होंने ये कीं—किशोर से "गुड ईवनिंग" कहा, उससे बिस्तर पर ज़रा सीधा बैठने को कहा, और उसके पास जाकर उसकी कमीज़ की बाँहें मोड़ कर ऊपर चढ़ा दीं।

बालक उनकी तरफ़ टुकुर-टुकुर ताकता रहा।

क़रीब डेढ़ साल तक जहाँ किशोर अपनी ज़िन्दगी से जूझ रहा था वहीं मारिया भी उस बच्चे के भग्न हृदय, टूटे हुए शरीर के साथ लड़ रही थीं और तीन बार ख़ुद मौत के साथ उन्होंने लड़ाई लड़ी। तीसरी बार तो उस किशोर ने मौत को मानों चुनौती दे डाली, उसके सामने हथियार न डालने का ऐलान कर बैठा वह। मारिया के जीवन का वह सबसे सुखद पल था—वह जीत गयी थी, उसने उस बालक को ज़िन्दगी से पराजित न होना सिखा दिया था।

मारिया को विश्वास हो गया कि बालक अब बच जायेगा, लेकिन अभी तो उसे बहुत कुछ सिखाना था। उसे चलना सिखाना था (हालाँकि डॉक्टरों को कतई उम्मीद न थी) और साथ ही उस बच्चे को पढ़ना-लिखना सिखाना था, क्योंकि वह मामूली लिखना-पढ़ना जानता था। और सबसे बड़ी अड़चन तो यह थी कि वह पढ़ाई-लिखाई करना बिलकुल चाहता ही नहीं था। वह तो बस अपने बिस्तर पर लेटे-लेटे ही दूर-दूर के देशों के सपने लिया करता था। मारिया ने उसके इसी स्वप्न को अपनी आगे की कूच का आधार बनाया। वे उसे अपने जीवन की रोचक घटनाएँ सरस ढंग से सुनातीं, इंग्लैण्ड और फ़्रांस की यात्राओं के प्रसंगों का बखान करतीं और वह आँखें फाड़े उनकी बातें सुनता रहता। एक रोज़ मारिया बोलीं, "अगर तुम इन सब बातों को खोना नहीं चाहते तो लिख क्यों नहीं लेते?" बालक बिदक गया, बोला, "मुझे कहाँ इतना लिखना आता है, तुम लिख कर मेरी मदद क्यों नहीं करतीं?" मारिया ने "नहीं" कह कर उसे दो टूक जवाब दे दिया। बालक इसके लिए तैयार न था, मारिया पर नाराज़ हुआ, उससे कुट्टी कर बैठा, लेकिन वे अपने निश्चय से टस से मस न हुईं। आख़िर बच्चे ने ही चुपचाप, मारिया की नज़रें बचा कर अपनी कॉपी में लिखना शुरू कर दिया। मारिया अनजान बनी रहीं। इसके कुछ दिनों के बाद मारिया ने एक क़दम और आगे बढ़ाया। उन्होंने उससे कहा, "अगर तुम देश-देशान्तर जाना चाहते हो तो तुम्हें पैसों की भी ज़रूरत होगी। अच्छा है, कुछ कमाई शुरू कर दो।"

"कमाई?" बच्चा आसमान से टपका।

"हाँ, यह लो छोटा-सा चरखा। तुम्हारे हाथ मज़बूत हैं, तुम इस पर

सूत कातो, बेचने की ज़िम्मेवारी मैं लेती हूँ। वह **तुम्हारी अपनी** कमाई होगी।" लेकिन साथ ही शर्त यह थी कि किशोर को अपनी कमाई का हिसाब ख़ुद रखना होगा—यानी हिसाब भी सीखना होगा!

इस सबका धीरे-धीरे नतीजा यह निकल रहा था कि बच्चा सारे दिन गुड़ी-मुड़ी होकर, बुड़बुड़ाता हुआ बिस्तर पर ही नहीं पड़ा रहता बल्कि उसने अपने दिमाग़ का, अपने हाथों का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था। अपने-आप काते हुए सूत की पहली कमाई जब मारिया ने उसके हाथों पर रखी तो बच्चे को ऐसा लगा मानों उसके जीवन का सबसे क़ीमती क्षण उन्होंने उसकी मुट्ठी में बन्द कर दिया हो।

लेकिन मारिया को तो अभी उसकी दोनों मुट्ठियों को ऐसे कितने ही अनमोल क्षणों से भरना था!

अब मारिया ने उसे सबसे महत्त्वपूर्ण पाठ सिखाना शुरू किया—अधैर्य और व्यग्रता का पाठ—उन टाँगों के लिए व्यग्रता जो हिलना नहीं चाहती थीं, उस मस्तिष्क के लिए अधैर्य जो अभी तक कितनी कम चीज़ें जानता था। उसके पैरों की मालिश कर-करके उसे ऐसे-ऐसे व्यायाम करातीं कि बालक चीखता-कराहता; कितनी ही बार दोनों के आँसू बहे, लेकिन मारिया ने न प्रयास करना छोड़ा न बच्चे को ही छोड़ने दिया।

और अब आयी बिस्तर से उठने की बारी। यह था उस किशोर के जीवन का सबसे कठिन पल। जिन पैरों ने धरती माता का न जाने कितने वर्ष पहले स्पर्श किया था आज उन्हीं पर क़दम रखना उसे सीखना था! इसके लिए सीख़चोंवाला एक विशेष प्रकार का 'वॉकर' बनवाया गया। मारिया के साथ दो और चिकित्सक मदद के लिए आये, क्या वह किशोर कसौटी पर उतर पायेगा?

हफ़्ता बीता, दो हफ़्ते गुज़र गये, बच्चा किसी तरह ज़मीन पर पैर रख कर खड़ा ही न हो पाता था। मारिया का हृदय रो उठा, "क्या मेरी साधना अधूरी रह जायेगी?"

किशोर ने अपनी मसीहा को सुबकते देख लिया। उसका दिल भी रो पड़ा। और उसी पल उसने क़सम खायी, "आज, मैं अपनी इन माँ के आँसू पोंछ कर रहूँगा।"

उस रोज़ उस अस्पताल में ऐसा कोई न था जिसकी आँखें बालक के

दो क़दम चलने के उस प्रयास को देख भीग न आयी हों।

शुभारम्भ हो गया। अब उस किशोर को कोई न रोक सकता था। कुछ दिनों बाद वह किसी की सहायता के बिना ख़ुद अपने पैरों पर खड़ा हो, अपने 'वॉकर' के सहारे टेढ़े-मेढ़े क़दम रखता हुआ कमरे में चलने लगा। पहले रोज़ उसे इस तरह बढ़ते देख मारिया बिलकुल किशोरी बन गयीं। ताली बजा-बजा कर उछलने लगीं और अपनी मसीहा की ख़ुशी में किशोर भी झूम उठा।

अन्तहीन प्रगति चलती रही।

अब मारिया बाहर बग़ीचे में आकर बैठतीं और किशोर न केवल अपने 'वॉकर' के सहारे चलता बल्कि कई बार जान-बूझ कर हँसता-खिलखिलाता मारिया की प्रदक्षिणा ही करता रहता, वहीं बैठ कर मारिया उससे व्यायाम करवातीं, कभी चरखा बाहर निकल आता तो कभी किताबों का जमघट। बालक के अन्दर चित्रकारी का शौक भी पनप गया था। और प्रकृति के अनगिनत रहस्य भी उसके सामने खुलते जा रहे थे, कभी तितलियों, कभी फूलों तो कभी आकाश में उमड़ते-घुमड़ते बादलों के बारे में वह मारिया से तरह-तरह के प्रश्न पूछता, मारिया उसे कभी ख़ुद समझातीं तो कई बार उसके हाथों में किताबें थमा देतीं।

जीवन कितना सुन्दर है यह उस बालक ने मारिया के साथ रह कर सीखा।

अब उसके क़दम सीधे पड़ने लगे थे लेकिन 'वॉकर' छोड़ने की हिम्मत वह किसी तरह जुटा न पाया था। एक दिन बात-बात में वह कह बैठा मारिया से, "आपने मुझे कहाँ से कहाँ ला खड़ा कर दिया। लेकिन शायद अब यह बेड़ी मुझसे न छूटे।"

मारिया चुप रहीं। उसे अपने ठीक सामने बिठा, अपनी दोनों हथेलियों से उसके गालों को दबा, एकटक उसे देखती हुईं, सधी आवाज़ में बोलीं, "मैं रहूँ न रहूँ, लेकिन तुम इन पैरों से नृत्य करोगे मेरे बच्चे!"

"तुम्हारा रूपान्तर होकर रहेगा"

उनकी बात को सत्य साबित कर दिखाया उस किशोर ने। जब वह युवक मंच पर उतरा तो सारा हॉल शुरू से अन्त तक लगातार तालियों की गड़गड़ाहट से गूँजता ही रहा। सभी उसके सम्मान में खड़े ही रहे।

पुरस्कार-वितरण के समय उसने मंच से अपनी मसीहा-माँ को आवाज़ लगायी। सन से सफेद बालोंवाली उन वृद्धा ने वह पुरस्कार ग्रहण किया। जब जनता ने उस नवयुवक से दो शब्द कहने का अनुरोध किया तो युवक के हाथ में थमे 'माइक' पर सन्नाटा गूँज रहा था और आँखें मानों **पूर्ण समर्पण** की सारी कहानी सुना रही थीं।

—वन्दना

कैसे पहुँच पाऊँगा

आकाश देखता हूँ
उसकी ऊँचाई, उसका विस्तार देखता हूँ
सिहर तो उठता हूँ...
*
सोचता हूँ,
कैसे पहुँच पाऊँगा वहाँ तक
कैसे छू पाऊँगा उसकी ऊँचाई?
मेरे पंख तो बहुत छोटे हैं
थक भी जाते हैं शीघ्र ही।
*
फिर सोचता हूँ,
जितनी भी शक्ति है, मेरे इन पंखों में
जैसी भी, उसने ही तो दी है;
और उसका ही है यह असीम आकाश
कहीं न कहीं तक
पहुँच ही पाऊँगा
छू ही पाऊँगा
उसकी विशालता के किसी न किसी छोर को।

पुस्तक 'आलाप' से उद्धृत अंश —श्री विश्वनाथ

मात्र एक क्षण, गहरे और सच्चे प्रेम की मात्र एक उछाल, बोध का वह सिर्फ़ एक क्षण जो भागवत कृपा में मिलता है, सब सम्भव व्याख्याओं की अपेक्षा लक्ष्य के अधिक समीप ले जाता है। सूक्ष्म, स्पष्ट, आलोकित, पैना और गहराई तक पैठने वाला एक तरह का सुरुचिपूर्ण संवेदन सूक्ष्मतम व्याख्याओं की अपेक्षा द्वार को ज़्यादा खोल देता है।

श्रीमाँ

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

With best compliments from:

AURO MIRRA INTERNATIONAL SCHOOL,

110, Gangadhar Chetty Road,
Ulsoor, Bangalore-560042
Email:accounts@auroschoolsulsoor.org
www.auroschoolsulsoor.org

AURO MIRRA CENTRE OF EDUCATION

An Integral School,
SSST Nagar, Patiala
E-mail: auromirrapta@gmail.com

SRI AUROBINDO INTERNATIONAL SCHOOL

(A Senior Secondary School)
Sri Aurobindo Marg,
Rose Garden-Bus Stand, Patiala
E-mail: auroschoolpta@gmail.com

Date of Publication: 1st May 2023
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70